वैदिक स्वर्ग

चमूपति एम.ए.

दिनांक	सदस्य संख्या	दिनांक	सदस्य संख्या

वैदिक स्वर्ग

मौलाना अब्दुल हक़ द्वारा लिखित **वेदों का बहिश्त**
का
युक्तियुक्त सप्रमाण उत्तर
[**वैदिक स्वर्ग** (उर्दू) का हिन्दी संस्करण]

लेखक

स्व० पं० चमूपति एम० ए०

हिन्दी रूपान्तरकार
पं० उत्तमचन्द 'शरर' एम० ए०
हिन्दीकरण के प्रेरणा-स्रोत
स्व० राय साहिब चौ० प्रतापसिंह जी

प्रकाशक

समर्पण शोध संस्थान
४/४२, सै० ५, राजेन्द्र नगर
साहिबाबाद (गाजियाबाद) उ० प्र०

गुरुदत्त विद्यार्थी निर्वाण-शताब्दी स्मृति ग्रन्थ :—

प्रकाशक :

समर्पण शोध संस्थान

४/४२ सै० ५, राजेन्द्र नगर

साहिबाबाद (गाज़ियाबाद उ० प्र०)

२०१००५

हिन्दी संस्करण : संवत् २०५३ (सन् १९९७)

मूल्य : ४०.००

प्राप्ति-स्थान :

१—**समर्पण शोध संस्थान**

४/४२, सैक्टर ५, राजेन्द्रनगर

साहिबाबाद (गाज़ियावाद)

२—गोविन्दराम हासानन्द

४४०८, नई सड़क, दिल्ली-११०००६

मुद्रक :

राधा प्रैस, दिल्ली-११००३१

विषय-सूची

क्र० सं०		पृष्ठ
१.	भूमिका ...	६
२.	सृष्टि उत्पत्ति ...	३५
३.	ईश्वर का संकल्प ...	३६
४.	चतुष्पाद् ...	४७
	i-विराट् पुरुष ...	४८
५.	यज्ञ ...	५२
६.	तीन लोक ...	५६
७.	पुनर्जन्म ...	६४
८.	पितृलोक ...	६७
६.	स्वर्ग ...	८३
१०.	पकी हुई ककड़ी ...	८८
११.	जीव की कब्र ...	१००
१२.	नरक—पाप स्वयं नरक ...	१०६
१३.	ब्राह्मण की गौ ...	११०
१४.	त्रिविष्टप ...	११५
१५.	सुखी गृहस्थ ...	११७
१६.	मुक्ति लोक ...	१२६
१७.	स्वर्ग शारीरिक है या आत्मिक ...	१३८
१८.	क्या स्वर्ग अनन्तकाल तक है ...	१४१
१६.	प्रकाश और आनन्द ...	१४५
२०.	ब्रह्मपुरी ...	१५१
२१.	स्वर्ग में सुरा ...	१५४
२२.	गन्धर्व और अप्सराएँ ...	१५८
२३.	उस्ताद जी ...	१६६
२४.	वेद में बहुविवाह निषेध ...	१७०
२५.	कुर्आन के बहिश्त-सम्बन्धी अहमदिया लाहौरी (व्याख्या) ...	१८०

मन्त्रानुक्रमणिका

अ

अकामो धीरो ५५
अग्निर्मा गोप्ता ९५
अग्निश्वात्ताः ७५
अग्ने जनिष्ठा १२१
अंगिरसो नः ७८
अजः पक्वः स्व १२०
अजमनज्मि
अजस्त्रि नाके १३२
अजारे पिशं ३७
अजारोह सु ११९
अजो अग्निर् १३०
अथ द्यौ किम् ८४
अथ यदि गी १६०
अदान्मे पौरु १७५
अदाय जीत १३२
अधामृताः पि ६९
अनवद्याभिः १६१
अनागो हत्या ६४
अनस्थाः पूताः १७६
अनुच्छ्यश्या १३४
अनृणा अस्मि १३५
अनृत्यतः शि १६७
अन्वारभेथा १२०
अपाङ् प्राङ् ३८
अपूपापिहि १४९
अपेत वींत ७८
अभ्रिये दिद्यु १६२
अयमकृणो १३२
अयं नाभा व १४३
अयं लोको ज १२८
अयं लोकः प्रि १२७
अर्वाञ्चो अद्या १०६
अवसृज पु १३९
अशिता लोक १३१
अश्त्थो देव १३६
अश्वत्थो देव १४६
अष्टा चक्रा न १५२
असौ यो अध ११२
अहमिन्द्रो न ९०
अहा अराति ११७

आ

आण्डीकं कुमु १४८
आच्याजानु द ७२
आच्या जानु ७४
आ त एतु म ६५
आत्मैवेदम् ४२
आदाय जीतं १३२
आदित्यो ब्रह्म ५८
आनृत्यतः शि १६७
आविरभून् ७३
आरोह सूर्ये ६०
आसीनासो अ ७२

इ

इदमोदनं ११८
इदं पितृभ्यो ७१
इदं मे ज्योति १२०
इदं यमस्य १६०
इन्द्र जहि पु १०८
इन्द्रासोमा दु १०६
इन्द्रा सोमा व १०७
इन्द्रा सोमा स १०६
इन्द्रो मन्थतु ९२
इममोदनम् ११८
इयं यमं प्र ७८
इयमेव पृ ५४
इयमेव सा १७४
इरावतीधे ५७
अक्थ उक्थे १७३
उच्चा दिवि ११६
उच्छ्वञ्चमा १०३
उच्छ्वञ्चस्व १०३
उत्तमो अस्थस्य १४७
उत्ते स्तभ्नामि १०४
उत्पादक व्र ६७
अदन्वती द्यौ ७०
उदीच्चां त्वा दि ५६
उदीरतामव ७१
उपक्षरन्ति १४९
उपसर्प मात १०३
उपहूता: पि ७२
उभे धुरे व १७१
उर्वारुकम् ९६
ऊर्ध्वंमूलोऽवा १४६
ऊर्ध्वायां त्वा दि ५६
ऊर्ध्वो नु सृष्य १५१

ऋ

ऋतस्य जिह्वा १३३
ऋतस्य पन्था १४९
ऋतस्य योनौ ६०
ऋताषाड् ऋ १५८

ए

एतत्त्वा वास: ६६
एतद्वो ज्योति: १३१
एतावानस्य ४७
एवमेवैष १७७
एष यज्ञानां ११८

क

कन्यला पितृ ५९
कामस्तदग्रे ३५
कामौ जज्ञे प्र ३९
कालेयमङ्गि १२८
कुर्यादिहरह: ६९
कृण्वन्तोविश्व ९४

ग

गन्धर्वाप्सर १६५
गन्धर्वाप्सर १६४

घ

घृतह्लदा मधु १५४

च

चकार ताक्ष १७३
चतुर्दंष्ट्रांछ् १६९

ज

जहि त्वं काम ३९
जीवला नाम १४७
जीवेम शर ८९

त

ततं तन्तुम् १३६
ततो विरोड् ४८
तत्रामृतस्य १४७

तदस्य प्रिय १४८
तद्यद्रज ५८
तपसा ये अ ३५,६९
तम आसीत् ३५
तमी मण्वी: १७०
तं यज्ञं बर्हि ४९
तयोरिद्घृ १६०
तवद्रप्सो नी १७५
तस्मिन् हिर १५२
तस्मै घृतं सु १५५
ता ईं वर्धन्ति १३३
ता उभौ चतु १२२
तिस्रो द्यावः स ७९
तुभ्यमेव ज ९५
तृतीयस्याम् १४७
त्रिपाद्वर्ध्वं उ ४७
त्वं महीनामु १७५
द
दक्षिणायां त्वा ५६
दिव्यो गन्धर्वः १५९
दिव्यो गन्धर्वो १५८
देवाः पितरो १६४
देवाः पितरो १६४
देवा वशाम् १११
द्वा सुपर्णा स १०१,१४५
द्वे इदस्य क्र १३३
द्वे सृती अशृ ७५
ध
ध्रुवायां त्वा दि ५६
न
न वा अमुम् ८४
न वा उ सोमो १०८
न वै तं चक्षुः १५२
न सोम इन्द्रं १७४
नाकल्य पृष्ठे १४९
नाभ्या आसीद् ४६
नासदासीन्नो ३५
निधिं निधिपा १३३
नैनं घ्नन्त्य १६७
प
पञ्चौदनः प १३५
पतिं मे केव १७१
परं मृत्यो अ ९०
परः सो अस्तु १०८
पापमाहुर् यः १७१
पापासः सन्तो १०६
पुण्य कृतो हि ८४
पुनर्देहि वन १०१
पुनर्न पित ६५
पुरुष एव ४७
पृष्ठात् पृथि १३६
प्र तद् वोच ६७
प्रतीच्यां त्वा ५६
प्रतीमां लोका १४९
प्रपदोव ने १३४
प्रभ्राजमानां १५२
प्र या जिगाति १०८
प्रवर्तय दि १०८
प्राच्यां त्वा दिशि ५६
प्राणेनाग्ने च १००
प्रेहि प्रेहि प ७८
प्रो अयासीदि १७२
ब
बर्हिषदः पि ७१
बृहत्ते जालं १२८
ब्रह्मचर्येण ८९
ब्रह्मणेब्राह्म १२४
ब्राह्मस्य जन्म ६७

भ

भोजा जिग्युः सु १५४

म

मनो अस्य दै १७८

ममेदसस्त्वं १७१

मर्य इव यु १७३

मा त्वा वृक्षः सं १०२

माध्यमिको य ७७

मृडाद् गन्ध १६०

मृत्यवेऽसून् ९३

मै नमग्ने वि ७३

मोषु वरुण १०१

य

य आत्मदा ब ९९

य उदाजन् १४३

य उदाराः अ १६४

य ऋतेन सू १४३

यच्च वर्चो अ १५६

यज्ञं यन्तं म १३६

यत्पुरुषं व्यद ४९

यत्र कामानि १३०

यत्र ज्योतिर १२९

यत्रानन्दाश्च १३०

यत्रानुकामं च १२९

यत्र राजा वै १२९

यत्र सुहार्दः १४०

यथाज्यं प्रगृ १११

यथानातः पु १०६

यथायथा प्रा १४०

यदन्यासु वृ १७२

यदीमातुरु १७०

यदृच्छया चो १२४

यद् वो अग्निः १३९

यमो नो गातुं ७७

यस्ते देवेषु १३९

यस्मिन् वृक्षे १४५

यस्मिन् वृक्षे १४५

याभिः सोमो मो १७२

याः क्लन्दास्तम् १६२

यास्ते शिवास्त ४०

ये अग्निष्वात्ता ७३

ये मन्नो जाता १६८

ये उदारा अ १६४

ये गन्धर्वा अ १६७

ये च जीवा ये १५०

ये चित्पूर्व ऋत ९५

ये चिद्धि मृत्यु ९४

ये चेह पितरो ७२

ये ते पूर्वे प १५०

येन देवाः स्व ११७

येन महानघ्न १५६

ये नः पितुः प ६९

ये निखाता ये ७५,८०

ये पाकशंसम् १०७

ये ब्राह्मणं प्रत्य ११०

येभ्योमाता म १७९

ये मृत्यवे ए ९५

ये यज्ञेन द १४३

ये युध्यन्ते प्र ८९,९९

ये ये कामाः द्रु १७८

ये शतं मनु ९९

येषां पश्चात् १६९

ये समानाः स ७६

यो जाम्या अप्र ११२

यो ददाति शि ११९

यो ब्राह्मणं म ११०

यो ममार प्र ७४

यो वै तां ब्रह्म १५२

र
राज्यसि प्राची १२२
व
वरणेन प्र ११२
वशा माता रा १११
वासांसि जीर्णा ६५
विश्वावसुर १६०
विष्टारिणम् ११७,१५६,१७६
वेदाहमेतं ५०
श
शं तप माति १०२
शतं चैका च ६७
श्रेयान् स्व १२४
श्वेवैकः कपि १६७
स
स कुष्ठो विश्व १४७
सङ्गच्छस्व पि ७८
सभा च मा स ६८
स मायं मणि १५०,१५४
समु त्वा धीभिः १७१
सर्वं कर्माणि १५१
सर्वान् कामा १११,१५१
सर्वेषां तु स ६१
सर्वो वै तत्र ११२
सहस्रधारे १३३
सहस्रशीर्षा ४७
सुरायां सिच्य १५५
सुविज्ञानं चि १०८
सूर्यं चक्षुर्ग ६५
सोऽरिष्ट न ११२
स्वधर्ममपि १२४
स्वधापितृभ्यः ७०
स्वमेवैष सं १७७
स्वर्गालोका अ
श
शतं चैका हृ
ह
हतो वा प्राप्स्य १२४
हिम घ्रसं चा ५५
हिरण्यदा अ ११९
हिरण्ययाः प १४६
हिरण्ययी नौ १४६

प्रकाशकीय

आर्य जनता को विदित हो कि **समर्पण शोध संस्थान** अपने जीवन के बारहवें वर्ष में पदार्पण कर रहा है। इस छोटी-सी आयु में संस्थान ने वैदिक शोध के क्षेत्र में एक कीर्तिमान स्थापित किया है, 'होनहार बिरवान के होत चीकने पात' की कहावत को चरितार्थ किया है, यह तो हर ग्रन्थ के पन्ने-पन्ने, पंक्ति-पंक्ति और पद-पद से स्पष्ट है। संस्थान ने न केवल शोध के क्षेत्र में ही कीर्तिमान स्थापित किया है, अपितु प्रकाशन के क्षेत्र में भी कीर्तिमान स्थापित किया है जिसे लांघना दुस्तर है। संस्थान का पूर्ण निश्चय है कि इस कीर्तिमान को वह बराबर बनाए रखेगा।

आजीवन सदस्यों की सेवा में—

हमें खेद है कि आजीवन सदस्यों की सेवा में आशानुरूप साहित्य नहीं दे पाये हैं, उसका कारण दो गुरुतर ग्रन्थों का प्रकाशन है—१. सामवेद-भाष्य और २. शतपथ-भाष्य। कुछ नहीं तो दोनों ग्रन्थों के प्रकाशन पर आनुमानिक व्यय दो लाख आँका गया है। दोनों ही ग्रन्थ प्रैस में हैं। हमें आशा है कि दोनों ग्रन्थ इस वर्ष छपकर तैयार हो जाएँगे। ग्रन्थ-प्रकाशन की कठिनाई को कोई प्रकाशक ही समझ सकता है, अधिक क्या कहें !

संस्थान का निश्चय—

आजीवन सदस्यों की भावना को समझते हुए संस्थान ने निश्चय किया है कि जबतक दोनों विशाल ग्रन्थ छपें तबतक उच्च स्तर के लघुग्रन्थ छापकर सदस्यों तक पहुँचाए जाएँ। उसी के परिणामस्वरूप **"वैदिक स्वर्ग"** ग्रन्थरत्न आपके हाथ में है। इसे सन् १९९० गुरुदत्त विद्यार्थी निर्वाण-शताब्दी का उपहार समझें। धर्म के प्रथम लक्षण धैर्य का त्याग न करें। हम वैदिक साहित्य के निर्माण में जी-जान से जुटे हैं, प्रभु की कृपा और आपका आशीर्वाद रहा तो संस्थान उत्तरोत्तर उन्नति के पथ पर अग्रसर रहेगा। आप अपने सहयोग और सहानुभूति का हाथ बढ़ाए रखें, बनाए रखें !

दीक्षानन्द सरस्वती
संस्थापक
समर्पण शोध संस्थान

समर्पण शोध संस्थान के प्रधान—श्री स्वामी सर्वानन्द जी महाराज
अध्यक्ष—दयानन्द-मठ दीनानगर का

आशीर्वाद

आर्यजनों में यह किंवदन्ती चली आ रही है कि जब ऋषि-भक्त गुरुदत्त विद्यार्थी को अपना अधूरा कार्य पूरा करने के लिए नया चोला धारण करने की इच्छा हुई तो उन्होंने रियासत बहावलपुर के ग्राम खैरमपुर के मेहता परिवार में चमूपति के रूप में जन्म लिया। बालक चम्पतराय में वे सभी गुण प्रस्फुटित होने लगे जो ऋषि-भक्त गुरुदत्त में थे। एक समय आया कि चम्पतराय भी गुरुदत्त की भाँति नास्तिक बन बैठा। उसकी नास्तिकता भी आर्यसमाज के साहित्य का संस्पर्श पाते ही काफ़ूर हो गई। महर्षि के दर्शनों के उपरान्त ही गुरुदत्त संस्कृत भाषा के दीवाने बने थे, हमारे चरित्रनायक विद्यार्थी चमूपति भी आर्यसमाज का परिचय पाते ही संस्कृत के परवाने बन गये। बी० ए० तक की परीक्षा उर्दू, फ़ारसी व अंग्रेज़ी माध्यम से उत्तीर्ण की। देवनागरी अक्षरों से परिचय तक न था, बस विद्यार्थी चमूपति ने निश्चय किया कि एम० ए० परीक्षा संस्कृत में ही करेंगे। फिर क्या था, दृढ़व्रती विद्यार्थी चमूपति ने एम० ए० परीक्षा संस्कृत माध्यम से ही दी और सफलता ने उनके चरण चूमे।

एम० ए० परीक्षा पास करते ही आर्यसमाज के प्रचण्ड साहित्य-झंझावात ने पं० चमूपति को अपनी लपेट में ले लिया। फिर क्या था, विद्यार्थी चमूपति आर्यसमाज के मंच पर पण्डित बन विराजमान हो गया, वेद और दयानन्द-दर्शन का द्रष्टा बन गया, अब जो भी कुछ बोलता वह वेद और दयानन्द का मुख बनकर बोलता, जो लिखता वह वेद और दयानन्द का हाथ बनकर लिखता, **'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्'** मंत्र की मूर्त व्याख्या। उस समय के आर्यसमाज के पारखी ने भी इस हीरे को यथास्थान जड़ दिया। प्रारम्भ में मुलतान गुरुकुल के आचार्य-पद पर प्रतिष्ठित किया तो अन्त में कांगड़ी गुरुकुल का आचार्य-पद भी सौंप दिया। उन्हीं दिनों आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब ने **'दयानन्द सेवा सदन'** की स्थापना की थी। सदन का सदस्य बननेवाले को दीक्षा लेनी होती थी। श्री पं० चमूपति भी उसके सदस्य बने और उन्होंने दीक्षा ग्रहण करते समय अपने दीक्षागुरु स्वामी स्वतन्त्रा-

नन्द जी के सामने अपने हार्दिक भाव इस प्रकार व्यक्त किए—

"इससे पूर्व मैं सोच-समझकर अपनी बुद्धि से स्वतन्त्रतापूर्वक कार्य करता था। आज से मैंने अपनी वह स्वतन्त्रता आर्य प्रतिनिधि सभा को समर्पित कर दी है, अब मैं वही करूँगा जो सभा चाहेगी। अब मैं अपने लिए कुछ न सोचूंगा।"

सचमुच पं० चमूपति ने दीक्षा के समय की प्रतिज्ञा को खूब निभाया। सभा ने उन्हें **'वैदिक मेगज़ीन'** (अंग्रेज़ी) और 'आर्य' (हिन्दी) दोनों पत्रिकाओं का कार्य सौंप दिया, उन्हें सम्पादक बना दिया जिसे पं० चमूपति ने बड़े परिश्रम और योग्यता से सम्पन्न किया। सभा ने अनुभव किया कि ऐसे योग्य व्यक्ति को गुरुकुल कांगड़ी जैसे शिक्षण-संस्थान में ले जाना चाहिए। सभा की आज्ञा से वे वहाँ पहले 'उपाध्याय', पश्चात् मुख्याधिष्ठाता और अन्त में आचार्य-पद पर प्रतिष्ठित किए गये। इससे गुरुकुलीय शिक्षा में चार चाँद लग गये। उन्हीं दिनों उनकी लेखनी से विभिन्न प्रसून प्रसूत हुए, जिसने आर्यसमाज की साहित्य-बगिया को सुवासित किया।

पं० चमूपति अद्भुत प्रतिभा के धनी थे। उनका उर्दू, फ़ारसी, इंग्लिश और संस्कृत पर समान अधिकार था। उर्दू-हिन्दी के तो वे उच्चकोटि के कवि थे। उनके द्वारा रचित साहित्य का लेखा-जोखा इस प्रकार है—

वेद

१. जीवन-ज्योति (सामवेद के आग्नेय पर्व की भावभीनी व्याख्या)
२. सोम-सरोवर (सामवेद के पवमान पर्व की भक्तिमय व्याख्या)
३. यजुर्वेद के प्रथम १० अध्यायों की व्याख्या (आंग्ल भाषा में)

वेदांग

१. यास्क युग की वेदार्थ शैलियाँ
२. वेदार्ष कोश (तीन भाग) वेदों के पारिभाषिक शब्दों के महर्षि दयानन्दकृत अर्थ एवं ब्राह्मणग्रन्थों में दिए अर्थों का संग्रह

कल्प (कर्मकाण्ड)

१. सन्ध्या रहस्य
२. देव यज्ञ

उपनिषद्

१. नीहारिकावाद और उपनिषद्

दर्शन

१. वैदिक दर्शन
२. वैदिक सिद्धान्त
३. वैदिक तत्त्वदर्शन
४. वैदिक जीवन दर्शन

नाराशंसी

१. हमारे स्वामी
२. ऋषि दर्शन
३. ऋषि का चमत्कार
४. योगेश्वर कृष्ण

इति-ह-आस

१. आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब का इतिहास

उर्दू साहित्य

१. सत्यार्थ प्रकाश का उर्दू अनुवाद (१ से १० समुल्लास)
२. चौदहवीं का चाँद
३. जवाहिरे जावेद
४. वैदिक स्वर्ग
५. मजहब का मक़सद
६. परमात्मा का स्वरूप
७. नारा-ए-तौहीद
८. समाज और हम
९. हिन्दोस्तान की कहानी
१०. तालीमी ट्रैक्ट
११. छू मंत्र
१२. काक भुशुण्डी का लैक्चर

कविता साहित्य

१. दयानन्द आनन्द सागर
२. गंग तरंग
३. भारत की भेंट
४. गो माता की लोरी
५. मरसिया-ए-गोखले
६. ज्वार भाटा

अप्रकाशित साहित्य

१. वैराग्य शतक का पद्यानुवाद
२. १०० के लगभग हिन्दी कविताएँ

अंग्रेज़ी साहित्य

१. Translation of Yajur Veda (1 to 10 Ch.)
२. TEN Commandments of Daya Nand
३. Glimpses of Daya Nand
४. Mahatma Gandhi and the Arya Samaj

समर्पण-शोध संस्थान का प्रशंसनीय कार्य

समर्पण शोध संस्थान का एक उद्देश्य यह भी है कि संस्थान दिवंगत आर्य विद्वानों के अनुपलब्ध साहित्य का पुनर्मुद्रण कराए। उसमें सर्वप्रथम स्वर्गीय श्री पं० चमूपति जी के साहित्य का प्रकाशन है। संस्थान ने **योगेश्वर कृष्ण** के पुनर्मुद्रण से इसका शुभारम्भ किया है और दूसरे नम्बर पर उनके द्वारा लिखित उर्दू साहित्य के हिन्दी रूपान्तर को प्रकाशित करने का निश्चय किया है। परिणामतः 'वैदिक स्वर्ग' उर्दू पुस्तक का हिन्दी अनुवाद आपके हाथों में है।

प्रस्तुत पुस्तक शास्त्रार्थ-युग की एक अनुपम देन है। मुसलमानों के एक नवीन सम्प्रदाय (मिर्ज़ाइ जमाअ़त) के एक मौलाना अब्दुलहक़ ने सत्यार्थप्रकाश के चौदहवें समुल्लास में कुर्आन के बहिश्त पर महर्षि दयानन्द की समीक्षा का उत्तर देने के लिए **'वेदों का बहिश्त'** नाम से एक रसाला लिखा था। मौलाना ने 'इस्लामी बहिश्त'-विषयक ऋषि की समीक्षा का उत्तर देने के स्थान पर जीव व प्रकृति का अनादित्व, कर्मफल-सिद्धान्त, पुनर्जन्म आदि-आदि अन्य विषयों पर अनावश्यक, अप्रासंगिक विवाद छेड़ दिया। बहिश्त-विषयक ऋषि की शंकाओं की समीक्षा व आपत्तियों का उत्तर देने की बजाय कुर्आन के बहिश्त के सब नज़ारे वेदों में खोजने का प्रयास किया। वेद और वैदिक साहित्य के प्रमाण देकर मौलाना ने 'वैदिक स्वर्ग' को एक स्थानविशेष सिद्ध करने का प्रयास किया। मौलाना ने वैदिक साहित्य में हूरें (अप्सराएँ), सुन्दर लड़के (गिलमान), सुरा व मधु की नहरें, क़ब्रें व नरक की आग सब खोज निकाले। मौलाना की इस हिम्मत पर हम भी बलिहारी! श्री पंडित चमूपति जी ने मौलाना की सब बातों का सप्रमाण युक्तियुक्त अत्यन्त योग्यता से उत्तर दिया है; यह पुस्तक मात्र एक विधर्मी के आक्षेपों का ही उत्तर नहीं है। इसमें धर्म व दर्शन के कई मूलभूत सिद्धान्तों पर साहित्यिक भाषा में बड़ी रोचक शैली में विचार किया है। श्री पं० चमूपति जी की इस पुस्तक में भाषा का ओज, प्रवाह, रस, चुटकियाँ, मीठा व्यंग्य, कवि की कल्पना, दार्शनिक चिन्तन व मौलिकता सब-कुछ मिलेगा। पुस्तक की मौलिकता को देखते हुए हम इसे अपने विषय का शोध-प्रबन्ध कहेंगे।

हमारी दृष्टि में यह पुस्तक महर्षि दयानन्द की अमर कृति सत्यार्थप्रकाश के पश्चात् वैदिक धर्म व दर्शन पर लिखे गये सब श्रेष्ठ ग्रन्थों में से एक है। जो जिज्ञासु

वैदिक धर्म व दर्शन का तलस्पर्शी अध्ययन करना चाहते हैं, यह पुस्तक उनके लिए मार्गदर्शक का काम करेगी।

वैदिक धर्म पुनर्जन्म के सिद्धान्त पर खड़ा है। ईसाई मत और मुस्लिम मत एक ही जन्म में विश्वास रखते हैं। मौलाना ने भी अपनी पुस्तक में पुनर्जन्म पर कई आक्षेप दिए हैं। पं० चमूपति की विवेचनात्मक शैली तो देखिए कि एक-दो पंक्तियों में ही इन मतों में पुनर्जन्म दिखा दिया। पंडित जी लिखते हैं—"क़ुर्आन तथा इंजील की शिक्षा चाहे कुछ भी हो, वर्तमान इस्लाम व ईसाइयत को दो जन्म तो स्वीकार करने ही होंगे—एक वर्तमान का, दूसरा प्रलय के पश्चात् का।" कैसा सूक्ष्म विवेचन है! पाठक स्वयं विचार कर लें। दो जन्म ये मत भी मानते हैं। अन्तर केवल इतना है कि वैदिक धर्म वर्तमान जीवन से पूर्व भी जीवन मानता है। ये मत केवल मृत्यु के पश्चात् जीवन को स्वीकार करते हैं।

पुनर्जन्म मानने वाले मुसलमान

पुनर्जन्म के विवेचन के अनुसार पाठक यह अवश्य ध्यान रखें कि **सत्यार्थ-प्रकाश व वैदिक स्वर्ग** जैसे ग्रन्थों का यह प्रभाव हुआ कि इस्लाम में भी स्पष्टतः पुनर्जन्म के माननेवाले व्यक्ति पैदा हो गये हैं। इस्लाम में एक सम्प्रदाय **फ़िरक़ाए तनासुख़िया** के नाम से जाना जाता है। पं० चमूपति जी के इस प्रश्न का उत्तर मौलवी आज तक नहीं दे पाए कि जब स्वर्ग व नरक इस्लाम के अनुसार शुभ और अशुभ कर्मों का फल हैं और यह सिद्ध हो गया कि स्वर्ग-नरकरूप सुख-दुःख इस जन्म के कर्मों का फल हैं तो इस जन्म के सुख-दुःख किस जन्म के कर्मों का फल हैं? मानना पड़ेगा कि वे किन्हीं पूर्व-जन्म के कर्मों का फल हैं। इस्लाम के वकील आज यह भी मानने लगे हैं कि पापी आत्मा भी कुछ काल तक नरक का दुःख भोग कर स्वर्ग में प्रविष्ट होंगे। इसपर श्री पण्डित जी ने एक मार्मिक प्रश्न किया है—"इस दुःख-प्राप्ति से पूर्व स्वर्ग-प्राप्ति के लिए पुण्य कर्मों को आवश्यक क्यों माना गया है? जीवों की एक संख्या तो पुण्य कर्मों का मूल्य चुकाकर स्वर्ग के सुख को अपनी योग्यता के आधार पर प्राप्त करती है और एक समूह केवल नरक में रहने के कारण, जो उसके अपने कुकर्मों का परिणाम है—स्वर्ग-सुख को मुफ्त में प्राप्त करने वाला अधिकारी समझा जाता है।

श्री पं० चमूपति जी ने क़ुर्आन के कई भाष्यकारों व कई प्रमुख मुसलमान विद्वानों के प्रमाण देकर यह सिद्ध किया है कि सत्यार्थप्रकाश के चौदहवें समुल्लास के प्रकाश और प्रभाव के कारण इस्लाम अब पहलेवाला इस्लाम नहीं रहा। मुसलमानों की मान्यताएँ बदल गई हैं, बदल रही हैं। अनेक उलेमा सत्यार्थप्रकाश की समीक्षा का उत्तर देने का प्रयास कर चुके हैं, परन्तु सबके उत्तर भिन्न-भिन्न हैं। सत्यार्थप्रकाश के प्रभाव से सर सैय्यद अहमद खाँ जैसे अनेक मान्य मुसलमान

हूर व शराब तथा स्वर्ग के स्थानविशेष आदि होने में अब विश्वास ही नहीं रखते। इस्लाम के मूर्धन्य मौलाना चकड़ालवी लिखते हैं कि—"स्वर्ग की शराब को मीठा तथा सरस दुग्ध समझना चाहिए।" इस्लाम का यह रूप वैदिक धर्म के बहुत निकट है। मुसलमानों के दृष्टिकोण में यह परिवर्तन महर्षि दयानन्द के सत्यार्थप्रकाश का ही चमत्कार है। वैदिक स्वर्ग जैसे उत्तम ग्रन्थों के कारण **दो इस्लाम** व **दो क़ुर्‌आन** आदि पुस्तकों के लेखक एक शिरोमणि मुसलमान विद्वान् ने दरगाहों की पूजा, 'शिफ़ायत'—पाप क्षमा होने की मुस्लिम मान्यता की धज्जियाँ उड़ाकर रख दी हैं जैसे हम आर्य लोग स्वर्गलोक-नरकलोक को स्थानविशेष न मानकर अवस्था-विशेष मानते हैं। मुसलमानों में **लोक** शब्द का पर्याय **आलम** शब्द अवस्था अथवा लोक के अर्थों में प्रयुक्त होता है, जैसे **'आलमे ख़्वाब'** और **'आलमे बेदारी'** अर्थात् स्वप्नावस्था व जाग्रत अवस्था। पंडित जी का एक-एक वाक्य पाठकों के हृदय को छू लेता है। आइए ज़रा लेखक की बानगी तो देखें !

'वेदों का बहिश्त' के लेखक मौलाना अब्दुलहक़ वेदों में से क़ब्र खोज लाए। मौलाना ने वेदमन्त्रों के विचित्र-विचित्र अर्थ गढ़ लिए हैं। श्री पं० चमूपति जी ने अत्यन्त योग्यता से मौलाना के सब आक्षेपों का उत्तर देने के पश्चात् एक चुटकी लेते हुए लिखा है—

"मौलाना ने जिन मन्त्रों की चर्चा की है वे हमने अर्थसहित दे दिए हैं। उनमें न तो कब्र के दुःख का वर्णन है, और न अग्नि का। मौलाना ने अपने मन्तव्यानुसार व्यर्थ में ही धरती को कब्र तथा वृक्ष को अग्नि के रूप में कल्पित कर लिया है। वेद के मन्त्रों से इस प्रकार के भाव कोई कब्र के खोदनेवाला जान पाए तो मौलाना का वेदभाष्य उसके बड़ा काम आएगा।"

एक अन्य स्थान पर वैदिक शब्दों के अर्थ का अनर्थ करने पर पं० चमूपति लिखते हैं—मौलाना जी ! वेद की भाषा आपके इन अर्थों का बोझा न सह सकेगी।

'वैदिक स्वर्ग' ग्रन्थ को आदि से अन्त तक पढ़ जाइए कहीं भी आपको एक भी असंसदीय शब्द का प्रयोग न मिलेगा। विरोधी के आक्षेपों का उत्तर देते हुए श्री पं० चमूपति जी ने आर्योचित मर्यादा का परिचय देते हुए सारी पुस्तक में भूल-कर भी कहीं भी एक भी असभ्य शब्द का प्रयोग नहीं किया है। जिस पूज्य आर्य 'कविर्मनीषी' की लेखनी पर डॉ० सर मुहम्मद इक़बाल जैसे मुसलमान महाकवि भी मुग्ध थे, कहने की आवश्यकता नहीं कि इसके हिन्दी रूपान्तर से आज राष्ट्र-भाषा समृद्ध हो रही है। हमें आशा है कि इसके कई संस्करण निकलेंगे, इससे देश में ऐक्य भाव बढ़ेगा, भ्रान्तियां भगेंगी। आइए पं० चमूपति जी के शब्दों में सब मिल-कर सस्वर गायें—

गर्म फिर होने को है बज़्मे चराग़ां इश्क़ की।
वह ऋषि ख़ुद हो गया कन्दीले ताबां इश्क़ की॥

हिन्दु-मुसलमान सबका हृदय इस आलोक से आलोकित होगा। पं० चमूपति को याद आते ही हठात् मुँह से निकलता है—

तुझ से चमूपति ये चमन पुरबहार था।
ऐसी बहार जिस पे फ़लक तक निसार था।।

हिन्दी अनुवादक को आशीर्वाद

श्री पं० चमूपति जी की किसी भी कृति का इतर भाषा में उलथा करना साधारण बात नहीं है। उनकी ज्ञानप्रसूता लौह लेखनी से लिखी गई किसी पुस्तक का अनुवाद करने के लिए अनुवादक का भी सिद्धहस्त साहित्यकार होना आवश्यक है। हर्ष का विषय है कि—**वैदिक स्वर्ग** का यह अनुवाद एक ऐसे ही यशस्वी विद्वान् साहित्यकार प्राध्यापक प्रियवर उत्तमचन्द जी 'शरर' ने कर दिखाया है। इस पुस्तक को पढ़ते हुए पाठकों को ऐसा नहीं लगेगा कि वे अनुवाद पढ़ रहे हैं। प्रियवर शरर जी ने परिश्रमपूर्वक इस ग्रन्थ-रत्न का ऐसा बढ़िया अनुवाद किया है कि यह मूल ग्रन्थ ही लगता है। मुझे यह भी ज्ञात हुआ है कि पं० चमूपति जी की **'जवाहिरे जावेद'** नामक अनुपम दार्शनिक कृति के हिन्दीकरण का दायित्व भी शरर जी ने अपने ऊपर ले लिया है। प्रभु से प्रार्थना है कि शरर जी को यशस्वी, मनस्वी और दीर्घजीवी बनाए।

कृतज्ञता-प्रकाशन

मुझे ज्ञात हुआ है कि वैदिक स्वर्ग के हिन्दी रूपान्तर करने की सर्वप्रथम प्रेरणा करनाल के सुप्रसिद्ध दानी स्वर्गीय चौ० प्रतापसिंह जी ने ही दी थी। यदि वे प्रेरणा न देते तो सम्भवतः शरर जी इस ओर प्रवृत्त ही न होते, तब हिन्दी जगत् इस प्रकार के उच्चकोटि के दार्शनिक विवेचन से वंचित रह जाता।

अन्त में मैं अपने प्रिय शिष्य दीक्षानन्द को शतशः आशीर्वाद देता हूँ कि जिसने इस ग्रन्थ-रत्न को प्रकाशित करने का गुरुतर भार वहन किया। उपरि वर्णित सभी परिश्रम व्यर्थ चले जाते यदि यह ग्रन्थ-रत्न प्रकाशित न होता। वे आगे भी श्री पंडित चमूपति जी के अनुपलब्ध साहित्य का प्रकाशन कर पुण्य के भागी बनेंगे। समर्पण शोध-संस्थान वेद और वैदिक वाङ्मय पर उच्चकोटि का शोधकार्य करवाकर उसके प्रकाशन का दायित्व भी वहन कर रहा है यह सुखद आश्चर्य की बात है। और इस सबका दायित्व एकाकी स्वामी दीक्षानन्द वहन करते हैं यह उससे भी बढ़कर आश्चर्य है। मेरा आशीर्वाद है कि दीक्षानन्द के निदर्शन में सदा फलता-फूलता रहे।

□

भूमिका

मृत्यु के पश्चात् क्या होता है ? यह एक रहस्य है, जिसे सुलझाने का प्रयास मानव-बुद्धि सदा से करती चली आई है। यदि मृत्यु के साथ मानव-जीवन की कथा सदा के लिए समाप्त हो जाती है तो धर्म, सदाचार, पाप, पुण्य, बुराई, भलाई, ये सब केवल कल्पना-मात्र रह जाते हैं। एक अत्यन्त लाभप्रद एवं कर्मठ जीवात्मा का अचानक अभाव हो जाए, जिस मनुष्य का जीवन सहस्रों व्यक्तियों की आशाओं का आधार बन रहा है, जिसने आध्यात्मिक एवं नैतिक उन्नति के प्रयास में कोई कसर नहीं उठा रखी, वह क्षण-भर में ही समाप्त हो जावे और उसके समस्त चारित्रिक एवं आत्मिक प्रयास जलबुद्बुदवत् विलीन हो जावें, इसे मानव की तर्कशील बुद्धि उपयुक्त स्वीकार नहीं कर सकती। बौद्धिक तथा चारित्रिक उन्नति के प्रयास हर मूल्य पर सफल होने चाहियें—यह वह विश्वास है, जिसके आधार पर मानव-समाज की नींव स्थिर खड़ी है। न्याय तथा कर्म-फल की सारी कल्पना ही इसी एक विश्वास पर आधारित है। मनुष्य का न्याय तो भगवान् के न्याय के थोड़े-से अनुकरण का अधूरा-सा प्रयास ही है।

इधर मानव-बुद्धि को ईश्वर के न्याय पर पूर्ण विश्वास है, उधर इस असार संसार में लाखों कर्म, लाखों प्रयास, लाखों परिश्रम प्रतिदिन व्यर्थ जाते दीखते हैं; अत्यन्त श्रेष्ठ तथा लाभप्रद जीवन देखते-देखते मृत्यु का ग्रास बन रहे हैं। प्रश्न होता है—क्या मानव-जीवन का यही अन्तिम परिणाम है ? बुद्धि इसे स्वीकार नहीं करती। प्रयास को पनपने का, योग्यता को विकास का, और परिश्रम को सफल होने का अवसर अवश्य मिलना चाहिये। यदि इस जीवन में निराशा के उदाहरण अधिक हैं तो अवश्य ही इस जीवन के पश्चात् दूसरा जीवन होना चाहिये। मानव-बुद्धि इसी आधार पर जीवित है और धर्म की ओर से उसे यह हर्षप्रद समाचार मिलता है कि यह शरीर आत्मा का मृत्यु-स्थल नहीं बनने दिया जावेगा; मृत्यु शरीर की होती है, आत्मा की

नहीं। शरीर सावयव है, अतः नश्वर है; आत्मा निरवयव है, अतः अनश्वर है, नित्य है, और विनाश की छाया तक भी उसपर नहीं पड़ सकती। 'ओ नित्य आत्मा ! तू नहीं मरेगा, नहीं मरेगा, भय मत कर !"[1]

तब शरीर से निकलकर आत्मा कहाँ जाता है ? आत्मा को इसी-लिए तो अनश्वर मानते हैं कि यह अपनी योग्यताओं का विकास कर सके, अपने परिश्रम की खेती को फूलता-फलता देख सके। इसे इस कर्मक्षेत्र में इसलिए भेजा गया कि अपनी स्वाभाविक शक्ति के प्रदर्शन का इसे अवसर मिल सके। क्या इसी एक जीवन में आत्मा की स्वाभाविक शक्ति की पूर्ण अभिव्यक्ति हो गई ? क्या उसे और कर्म करने की आवश्यकता नहीं ?

मृत्यु के समय बहुधा मनुष्यों की आत्मिक तथा बौद्धिक दुर्बलताएँ पुकार-पुकारकर कह रही होती हैं कि अभी उन्हें और अवसर मिलना चाहिये। जिस दयालु शक्ति ने आत्मा की उन्नति के लिए उसे इस जीवन का सुअवसर दिया, वह शक्ति और अवसर देने की भी साक्षी है, और यदि उसने इस संसार के चुनाव में इस बार कोई धोखा नहीं खाया, तो जिन जीवों को इस संसार से और भी लाभ उठाने की आवश्यकता है, वह शक्ति उन्हें इसमें फिर उत्पन्न होने देगी। वर्तमान जीवन में विभिन्न व्यक्तियों के नाना प्रकार के भाग्य सुख-दुःख तथा बौद्धिक उन्नति के विभिन्न स्तर और उनकी विषमता इस सत्य का प्रमाण है कि मनुष्य को अपने स्वाभाविक गुणों के विकास का यह प्रथम अवसर नहीं मिला। निरवयव आत्मा जहाँ अविनाशी है, वहाँ अनादि भी है और इसकी शक्तियों के विकास का क्रम सनातन काल से चला आया है, जो भविष्य में भी चलता रहेगा। दर्शन में इस दृष्टिकोण को 'आवागमन' कहते हैं। इहलोक के पश्चात् परलोक की सत्ता तो सब मतों ने स्वीकार की है, परन्तु जीवन के सातत्य के कुछ सम्प्रदाय विरोधी हैं। क़ुर्आन तथा इंजील की शिक्षा चाहे कुछ भी हो, वर्तमान इस्लाम तथा ईसाइयत केवल दो जीवन स्वीकार करते हैं—एक वर्तमान का, दूसरा प्रलय के पश्चात् का। वर्तमान जीवन इन मतों की दृष्टि में कर्मक्षेत्र है, और परलोक में केवल फल-प्राप्ति ही होगी। प्रश्न होता है

---

१. सोऽरिष्ट न मरिष्यसि न मरिष्यसि मा बिभेः। (अथर्व० ८-२-२४)

कि कर्मक्षेत्र केवल एक जीवन में ही क्यों समाप्त हो जाता है ? कई लोग शैशव में ही मृत्यु का ग्रास हो जाते हैं, कुछ दीर्घायु पाकर भी अपने बौद्धिक तथा आत्मिक विकास में असमर्थ रहते हैं। उन्हें इस विकास का और अवसर न दिये जाने के दो कारण हो सकते हैं—एक यह कि उनकी वर्तमान उन्नति को ही पर्याप्त समझा जावे, दूसरा यह कि इस एक अवसर पर ईश्वर को अपनी भूल का अनुभव हो, और वह दूसरी बार इस अदूरदर्शिता को न करे। ये दोनों कारण मानव-बुद्धि को स्वीकार नहीं हैं। मनुष्य की बुद्धि कर्मक्षेत्र में जीव के फिर आ सकने को उपयुक्त दृष्टिकोण स्वीकार करती है। जीव की शक्ति के विकास का यह स्थान हमारे अनुभव में आ चुका है। भविष्य में जीव के पूर्ण विकास से पूर्व इस स्थान से भिन्न कुछ अन्य जीवन-क्षेत्रों की कल्पना उपयुक्त कल्पना नहीं है। इसी पंचभौतिक संसार में ही जीव की उन्नति के पर्याप्त साधन हैं।

ईसाइयत तथा इस्लाम में इस जीवन के पश्चात् प्रलय (क़यामत) के समय तक सब जीवों का निष्क्रिय पड़ा रहना स्वीकार किया गया है और क़यामत के पश्चात् मोमिनों (आस्तिकों) के लिए अनन्तकाल का स्वर्ग तथा काफ़िरों (नास्तिकों) के लिए स्थायी रूप से नरक का द्वार खोल दिया जावेगा। इस्लाम के अनुयायी कब्र में पहुँचने के पश्चात् मुनकिर तथा नकीर (दो फ़रिश्तों) के साथ प्रश्न-उत्तर और उनके द्वारा कब्र के विभिन्न कष्टों की धारणा में विश्वास रखते हैं; परन्तु यह भी एक अस्थायी अवस्था है। जीव की शक्तियों के विकास की अधूरी अवस्था में भी यह समय व्यर्थ जाने देना, यहाँ तक कि जो नरक के अधिकारी हैं, और जिन्हें सीमित जीवन के कर्मों के फलस्वरूप सदा का नरक मिलना है, उन्हें अपने सुधार का अवसर न मिल सकना, दयालु भगवान् की अनुकम्पा के सर्वथा विरुद्ध है। स्वयं इस्लाम तथा ईसाइयत में अनन्तकालीन नरक के विरुद्ध विद्रोह का स्वर बुलन्द हुआ है। इस समय इन दोनों मतों में ऐसे सम्प्रदाय जन्म ले चुके हैं, जो नरक को अनन्त नहीं मानते। उनकी दृष्टि में सीमित कार्यों का फल सीमित ही होना चाहिये, अतः नरक-काल भी सीमित होना चाहिये; और फिर हर पापी व्यक्ति इस दण्ड-काल के पश्चात् स्वर्ग में प्रविष्ट होगा। अन्ततो-गत्वा सब जीवों का स्थान तो स्वर्ग ही होगा और दयालु

परमेश्वर की यह दया इन मतों के मन्तव्य में उसकी महती कृपा की द्योतक है। परन्तु दार्शनिक बुद्धि स्वर्ग की अनन्तता तथा स्वर्ग की इस जनवादी व्याख्या से सन्तुष्ट नहीं हो सकती। यदि स्वर्ग का सुख बिना किसी पुण्य-कर्म के अन्त में सबको मिलना है, तो आरम्भ में इसके लिए पुण्य-कर्मों अथवा विश्वास का बन्धन क्यों लगाया गया ? किसलिए बहुत-से जीवों को इस कर्मक्षेत्र में कष्ट सहन कराये गये ? यदि कोई समय के कष्ट के पश्चात् पापी व्यक्ति को भी स्वर्ग जाने का अधिकार मिल जाता है, तो इस दुःख-प्राप्ति से पूर्व स्वर्ग-प्राप्ति के लिए पुण्य-कर्मों को आवश्यक क्यों माना गया है ? जीवों की एक संख्या तो पुण्य-कर्मों का मूल्य चुकाकर स्वर्ग के सुख को अपनी योग्यता के आधार पर प्राप्त करती है और एक समूह केवल नरक में रहने के कारण, जो उसके अपने कुकर्मों का परिणाम है, स्वर्ग-सुख को मुफ्त में प्राप्त करने का अधिकारी समझा जाता है। परमेश्वर का अपने पुत्रों से दो भागों में विषमता का यह व्यवहार क्यों ? बिना पुण्य-कर्मों के स्वर्ग-प्राप्ति के सिद्धान्त से पुण्यकर्मों का महत्त्व समाप्त होके रह जाता है।

वैदिक धर्म में जहाँ पुनर्जन्म का सिद्धान्त स्वीकार करने से जीव को कर्म करने के लिए अनन्त अवसर प्रदान किये जाते हैं, वहाँ मोक्ष के लिए शुभ कर्मों की शर्त भी अनिवार्य है। इससे न तो दयालु प्रभु की ओर से किसी अन्याय की शंका रहती है और न ही शुभ कर्मों का महत्त्व कम होता है।

ऋषि दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश के १३वें तथा १४वें समुल्लास में क्रमशः ईसाइयत तथा इस्लाम के इन सिद्धान्तों का खण्डन किया था। उसी काल में यूरोप में दार्शनिक जॉन स्टुअर्ट मिल अपने विचारों को लेखबद्ध कर रहा था, जो उसकी मृत्यु के पश्चात् पुस्तक के रूप में प्रकाशित हुए। इनमें आत्मा को अमर मानते हुए मृत्यु के पश्चात् की अवस्था को इस कर्म-क्षेत्र (संसार) से भिन्न अनुमानित करने को बौद्धिक रूप से सर्वथा अशुद्ध माना है। डॉ० मैकटैरगरेट, जो एक अन्य आंग्ल विद्वान् तथा दार्शनिक हैं, उन्होंने पुनर्जन्म के विषय पर तर्कपूर्ण विवेचन किया है, और आत्मा की अमरता के इस सिद्धान्त को उपयुक्त माना है। एमरसन ने इस सिद्धान्त को इतना स्पष्ट तथा सुबोध माना है जैसे दो और दो चार। प्रो० वार्ड ने गफ़रड लैक्चर्स देते हुए इस

दृष्टिकोण को स्वीकार किया है। इस प्रकार कालरेज, मोवल, हारमैन, गाल लाँगफैलो, वड्र्सवर्थ, ब्राउनिंग, टैनीसन, हेक्टर, टेलर, लैण्डन रालड्रेच, गेटे, शैलर आदि पाश्चात्य कवियों ने सरस रूप में इस तथ्य को अपनी हृदयग्राही कविताओं में अभिव्यक्त किया है।

ऋषि की आलोचना स्वयं मुसलमानों के पक्ष में भी व्यर्थ नहीं गई। सर सैय्यद अहमद खाँ ऋषि के समकालीन थे। उन्हें ऋषि के चरणों में बैठने का प्रायः सुअवसर मिलता था। सर सैय्यद ने क़ुर्आन का एक भाष्य लिखा है, जो प्रचलित भाष्यों से काफ़ी भिन्न है। मौलाना अल्ताफ़ हुसैन हाली ने अपनी रचना 'हयाते-जावेद' में इस मतभेद की एक सूची दी है। उसमें से निम्न वाक्य इस विवादास्पद विषय से सम्बद्ध हैं—

"इस प्रकार क़यामत के सम्बन्ध में जो कुछ कहा गया है, जैसे मुर्दों का पुनः उठना, हिसाब-किताब, जोड़, सिरात, स्वर्ग-नरक इत्यादि, यह सब पारिभाषिक (मजाज़ी) वर्णन है, वास्तविक नहीं।"

मौलाना शिबली, जो आधुनिक युग में इस्लाम के महान् विद्वान् हुए हैं, उन्होंने अपनी रचनाओं में इस्लाम के सिद्धान्तों का अपनी विद्वत्ता से रूप ही बदल डाला है। आर्यसमाज के त्रैतवाद तथा श्रुति-स्मृति को, तथा इस विश्वास को कि ईश्वर का सामीप्य विचारों तथा आचरण की शुद्धि पर आधारित है, चमत्कारों पर नहीं, मौलाना ने स्वीकार किया है। स्वर्ग-नरक के सम्बन्ध में उनका निम्न वाक्य विचारणीय है—"सुख तथा दुःख-भोग के सम्बन्ध में सब मतों का यह विचार था और आज भी है कि मनुष्य जब ईश्वर की आज्ञा का पालन नहीं करता तो ईश्वर उससे रुष्ट हो जाता है; और यह संसार तो कर्म-क्षेत्र है, अतः यहाँ मनुष्य को दण्ड नहीं मिलता। परन्तु जब क़यामत के दिन ईश्वर राजगद्दी पर विराजमान होगा तो ये सब उसके सामने प्रस्तुत किये जावेंगे और ईश्वर कर्मानुसार मनुष्यों को अवज्ञाओं का दण्ड देगा। इस प्रकार जिन लोगों ने भक्ति की, तथा आज्ञा-पालन किया, उन्हें पारितोषिक मिलेंगे······परन्तु यह सुख-दुःख-प्राप्ति का वास्तविक स्वरूप नहीं है, अपितु वास्तविकता को सुबोध बनाने के लिए कहने का सरल प्रकार है। वास्तविकता यह है कि जैसे भौतिक जगत् में कारण, कार्य तथा प्रतिक्रिया का प्रकार चलता है, यथा

संखिया (विष) मार देती है, गुलाब नज़ले को बढ़ाता है, अम्लतास जुलाब (रेचक) के लिए है, इसी प्रकार यह क्रिया-प्रतिक्रिया का क्रम आध्यात्मिक जगत् में भी है। अच्छे अथवा बुरे जो भी कर्म हैं, उनका अच्छा या बुरा प्रभाव मनुष्य की आतमा पर पड़ता है। शुभ कर्मों से जीव को प्रसन्नता प्राप्त होती है, अशुभ कर्मों से दुःख, आसक्ति और कालुष्य बढ़ता है और ये अपरिणामी हैं, जो जीव से जुदा नहीं हो सकते। अतः शुभ कार्यों से जीव में जो शुभ लक्षण जागते हैं और अशुभ कृत्यों से जो मलिनता प्राप्त होती है, इसी का नाम सुख-दुःख-प्राप्ति है।" (अल्कलाम, पृष्ठ १३९-१४०)

लाहौर में पिछले दिनों एक सम्प्रदाय का जन्म हुआ, उसका नाम है 'अहले-क़ुर्आन'। आर्यसमाज का अनुकरण करते हुए इस सम्प्रदाय ने अपने मन्तव्यों का आधार केवल एक ईश्वरीय पुस्तक पर रखा। जिस स्वर्ग में हज़रत आदम रहते थे, उसके सम्बन्ध में तो मौ० अब्दुल्ला चकड़ालवी अपनी रचना 'हुज्जतुलइस्लाम' के प्रथम पृष्ठ पर लिखते हैं—"इस पुस्तक सत्यार्थप्रकाश के अन्त में १४वाँ समुल्लास है, जिसमें इस्लाम पर आक्षेप किये गए हैं। उन्हीं आक्षेपों का हम उत्तर देना चाहते हैं।" आप पुनः फ़रमाते हैं—"सारे क़ुर्आन में आदम और उसकी पत्नी को स्वर्ग में प्रविष्ट करने का कहीं भी वर्णन नहीं है⋯⋯ जिस स्थान पर स्वर्ग में उनके निवास का उल्लेख है, वहाँ स्वर्ग से अभिप्राय संसार का सुखद उद्यान है।" (पृष्ठ ७९) मौलाना का यह कथन आर्यसमाज के मन्तव्य के कितना अनुकूल है! नफ़्खेसूर के सम्बन्ध में लिखते हैं—

जो लोग 'नफ़ख' का अर्थ फूँकना तथा 'सूर' का अर्थ नरसिंहा करते हैं, वे क़ुर्आन को जानते ही नहीं। वास्तविक अर्थ यह है—"और उत्पन्न की जावेगी चेतना बुद्धिमानों के रूप में।" (पृष्ठ ४५) शराबे-तहूर के अर्थ लिखते हैं—"जहाँ कहीं 'शराबे-तहूर' का शब्द आया है, उसका अभिप्राय इस हराम शराब से नहीं, अपितु हलाल वस्तु (भक्ष्य पदार्थ) पीने की, यथा मधु, दुग्ध, जल का अभिप्राय है।" (पृष्ठ ९३) शिफ़ाअत (सिफ़ारिश) के विषय में लिखते हैं—"संक्षेप भाव यह है कि क़यामत के दिन शिफ़ाअत अर्थात् सिफ़ारिश, सर्वथा नहीं होगी, अपितु केवल गवाही होगी। और गवाह केवल अपनी देखी-सुनी घटनाओं की

गवाही दे सकेंगे और बस।" (पृष्ठ ६०) दण्ड-विधान के साधारण विषय से चलकर हम एकदम स्वर्ग-नरक के विषय-विवेचन पर आ गये हैं; यह इस विचार से कि क़ुर्आन के माननेवालों (अहले-क़ुर्आन) के इस सम्बन्ध में जो नये मन्तव्य हैं, जो सत्यार्थप्रकाश के आक्षेपों का खण्डन (?) है, अथवा हमारे विचार में मण्डन है, वे सब एक स्थान पर दिये जा सकें।

सत्यार्थप्रकाश के चौदहवें समुल्लास का उत्तर मौ० सनाउल्ला अहले-हदीस ने भी लिखा है। उनकी पुस्तक का नाम है 'हक़प्रकाश'। हमारे विचार में यह मौलाना प्रचलित इस्लाम के अधिक समीप रहे हैं। दण्ड-विधान का मन्तव्य प्रायः वही रहा है, विवरण में कुछ घटा-वढ़ी की है, जैसे हूरों (अप्सराओं) के सम्बन्ध में लिखते हैं—"जो अधिक स्त्रियों से सम्भोग की क्षमता न रखता होगा उसको अधिक स्त्रियाँ न मिलेंगी, यदि किसी को एक स्त्री से भी आप (ऋषि दयानन्द) के समान कष्ट पहुँचेगा, तो एक भी न मिलेगी।" (पृष्ठ १९७-१९८) 'शरावे-तहूर' के सम्बन्ध में आपकी व्याख्या मौलाना चकड़ालवी से मिलती-जुलती है; लिखते हैं—"स्वर्ग की शराव को मीठा तथा सरस दुग्ध समझना चाहिये।" (पृष्ठ ३०) शिफ़ाअत पर मौलाना की सम्मति कुछ भिन्न है—"क़ुर्आन तथा रसूलअल्लाह की सिफ़ारिश क्या इतनी कम है कि इनके द्वारा वहुत-से कुफ़्फ़ार (नास्तिक) सत्य मार्ग पर आ गये ?" (पृष्ठ ६९)

मुसलमान विद्वानों के लेखों में से हमने नमूने के रूप में कुछ को उपस्थित किया है। हर लेख लेखक की योग्यता का मूर्त रूप है। मौ० शिबली का मस्तिष्क विस्तृत विषयों पर गया है, जबकि मौ० अब्दुल्ला चकड़ालवी और मुहम्मद सनाउल्लाह कुछ व्याख्याओं पर अपना मन्तव्य दे पाये हैं। इन उद्धरणों से यह तो स्पष्ट हो जाता है कि ऋषि दयानन्द के आक्षेपों ने इस्लामी संसार में एक भूचाल-सा ला दिया। केवल इस्लाम की बात नहीं, अब किसी भी सम्प्रदाय के विद्वान् सोये नहीं रह सकते। सब अपने मन्तव्यों की पड़ताल करने और उन्हें उपयुक्त रूप देने तथा समाज में तर्कसंगत सिद्ध करने को विवश हो गये हैं।

श्री ग़ुलाम अहमद क़ादियानी द्वारा स्थापित 'अहमदिया सम्प्रदाय'

का हमने अब तक कहीं वर्णन नहीं किया, क्योंकि हमारी पुस्तक ही इसी सम्प्रदाय के एक कार्यकर्त्ता से सम्बोधित है। नरक-काल की अनन्तता को भारत के इसी सम्प्रदाय ने अभी तक तिलांजलि दी है। सुख-दुःख-प्राप्ति के साधारण मन्तव्य पर इस सम्प्रदाय के किसी विद्वान् ने दार्शनिक रूप से सोचने का कष्ट नहीं किया। स्वर्ग के विवरण के सम्बन्ध में जहाँ अहमदी लेखकों के विचारों में मतभेद है, वहीं किसी विचारक ने इस विवरण की ऐसी निर्णयात्मक व्याख्या नहीं दी जिस पर और नहीं तो स्वयं व्याख्याकार का हृदय सन्तुष्ट हो सके। लगता है कि इस सम्प्रदाय का दृष्टिकोण अभी बन रहा है। पुराने तथा नये दृष्टिकोणों में अभी रस्साकशी जारी है। अहमदी जमाअत के दो सम्प्रदाय हैं—एक क़ादियानी तथा दूसरे लाहौरी। मौ० मुहम्मद इसहाक़ महोदय प्रथम वर्णित सम्प्रदाय से सम्बन्धित हैं। उनकी रचना 'हदूसे रूहो-माद्दा' क़ादियान के प्रकाशन-विभाग से प्रकाशित हुई है। उसमें मौलाना लिखते हैं—"स्वर्ग में स्वच्छ शहद (मधु) की नहरें होंगी......हर प्रकार के पवित्र तथा सुगन्धियुक्त पक्षियों का सरस मांस भी वहाँ मिलेगा (पृष्ठ १०९)। मोती के समान सुन्दर बच्चों का साक़ी (मधुबाला) बनकर पवित्र शराब के प्याले, फिर इन प्यालों पर स्वर्ग के वासियों की छीना-झपटी, फिर उठती आयुवाली, सुन्दर गौरवर्ण, श्यामनेत्रयुक्त, समवयस्क कुँवारी, लजीली पवित्र पत्नियाँ, एक नहीं, दो नहीं, तीन नहीं, अपितु सत्तर-सत्तर होंगी, परन्तु आपस में ईर्ष्या का नाम तक न होगा, कोमलता इतनी कि पिण्डली का मांस तक दिखाई देगा।" (पृष्ठ ११०) "इस संसार की शराब प्रायः खट्टी होती है, परन्तु स्वर्ग की शराब अत्यन्त सरस (१२७), सत्तर-सत्तर हूरें (अप्सराएँ) होंगी, पर इस संसार के समान परिणाम बुरा न होगा; यहाँ एक पुरुष अधिक स्त्रियों को सम्भाल नहीं सकता, इसलिए कुछ स्त्रियाँ अन्य पुरुषों की ओर झुकती हैं, परन्तु (स्वर्ग में) पुरुषों में दुर्बलता तथा दोष नहीं होंगे।" (पृष्ठ १२९)

लाहौरी पार्टी के ख्वाजा कमालुद्दीन फ़रमाते हैं—"सचमुच क़ुर्आन में उद्यानों, वृक्षों, दुग्ध, मधु, मेवे और अन्य वस्तुओं का वर्णन है, परन्तु यह केवल आलंकारिक वर्णन है।" (खुतवा कान्फ्रेंस)

आज हम मौलाना अब्दुल हक़ से सम्बोधित हैं। यह भी लाहौरी

पार्टी के मुख्य कार्यकर्त्ता हैं। उन्होंने पवित्र इस्लाम पर आर्यसमाज के सबसे बड़े आक्षेप का वेदों की भाषा में उत्तर दिया है। पुस्तक का नाम रखा है **'वेदों का बहिश्त'**। मौलाना ने इस्लामी बहिश्त पर ऋषि के आक्षेपों को संक्षिप्त रूप में इस प्रकार लिखा है :

(१) मुसलमानों के स्वर्ग में सांसारिक वस्तुएँ हैं।

(२) मुसलमानों का स्वर्ग गोकुलिये गोसाइयों के गोलोक, और मन्दिर के समान लगता है, जहाँ स्त्रियों का सम्मान अधिक है, पुरुषों का सम्भवतः नहीं।

(३) ईश्वर ने स्त्रियों को स्वर्ग में सदा के लिए रखा है, पुरुषों को नहीं।

(४) भला यह स्वर्ग है या वेश्यालय ?

(५) मुसलमानों का स्वर्ग क्योंकि अनन्तकाल तक के लिए है, अतः अन्यायपूर्ण है; जब कार्य सीमित हैं तो फल असीमित कैसे ?

(६) मुसलमानों के स्वर्ग में शराब की नदियाँ बहती हैं, बाग़ हैं, नहरें हैं, मकान हैं, मेवे हैं, हूरें हैं और सुन्दर छोकरे (ग़िलमान) हैं।

सूची के अन्त में ठीक तो यही था कि मौलाना इन आक्षेपों का उत्तर देते, सत्यार्थप्रकाश में वर्णित क़ुरआन की आयात की व्याख्या करते, जिससे पता चलता कि मौलाना स्वर्ग में ऋषि दयानन्द द्वारा वर्णित इस विवरण की क्या वास्तविकता समझते हैं, (परन्तु) अपनी पुस्तक के अन्त में मौलाना ने गाली प्रदान करने के पश्चात् लिखा है—

"आध्यात्मिक धरती पर एक धर्म का उद्यान है, जिसके नीचे पवित्र कर्मों की सदा रहनेवाली नहरें बहती हैं जिनके कारण यह उद्यान सदा खिला रहता है। अनन्तकाल तक कोई दोष उत्पन्न नहीं होता, अपितु इसकी शाखाएँ सदा सरस फलों से झुकी हुई रहेंगी। अथवा, वह एक पवित्र कळमा (वचन) है जिसे मनुष्य इस सांसारिक जीवन में शुभकर्मों की धरती के अर्पित करता हुआ पवित्र आचरण की नहरों से उसे सींचता है, यहाँ तक कि उसकी शाखाएँ आकाश से भी ऊँची जाती हैं। यद्यपि उसकी छाया इस जीवन में सुख तथा मानसिक शांति का फल देती है, परन्तु उसके वास्तविक परिणाम दूसरे जीवन में स्पष्टतया प्रकट होते हैं, अथवा यह वह पवित्रता तथा महत्ता का एक दीपक है

कि जिसे मनुष्य अपने शुभ कर्मों के चमकते हुए घृत से, पवित्रता के शीशेवाले फ़ानूस में जगमगाता है, कि जिससे उसके आत्मिक जगत् का कण-कण चमक उठता है।" ('वेदों का बहिश्त', पृ० १३१)

यह इस्लामी स्वर्ग का वह रूप है जिसे अहमदी महानुभावों का एक दल अपनी व्याख्या से लेखबद्ध किया चाहता है। अप्सरा (हूर) तथा सुन्दर लड़कों का, शराब तथा मांस का जो रंग मौ० सनाउल्ला तथा मौ० मुहम्मद इसहाक़ ने बाँधा है, मौ० अब्दुल्ला उससे उदासीन दिखाई देते हैं। इन मौलाना ने स्वर्ग के अनादित्व का आधार शुभ कर्मों के सातत्य (निरन्तरता) को मानकर स्वर्ग को केवल ईश्वर द्वारा प्रदत्त पारितोषिक ही नहीं रहने दिया, स्वर्ग-सम्बन्धी इस्लामी मन्तव्यों में मौलाना का यह परिवर्तन प्रशंसनीय है। यदि मौ० इस तथ्य पर भी ध्यान दे पाते कि मुक्ति की अवस्था में किये गए शुभ कर्म अपना फल स्वयं हैं, और उनमे कोई दूसरा फल नहीं बनता, तो उन शुभ कर्मों के आधार पर स्वर्ग की अनन्तता की कल्पना न करते। इहलोक तथा मोक्षावस्था के कर्मों में यह स्पष्ट अन्तर है कि वर्तमान जीवन के कर्म हमारी अपनी इच्छा पर आधारित हैं। हम पाप कर सकते हैं, किन्तु नहीं करते; अतः उसका पुण्यार्जन करते हैं। मोक्षावस्था में आत्मा पाप-कृत्य कर ही नहीं सकती। इस विषय में कुछ काल तक उसकी अवस्था वही हो जाती है जो ईश्वर की है। परमेश्वर सदा पुण्य-कर्म करता है, परन्तु उसके फल से मुक्त रहता है (पुण्य कर्म तो उसका स्वभाव है); यही अवस्था मुक्तात्मा की हो जाती है। मोक्ष इस जीवन के कर्मों का परिणाम है। सीमित कर्मों का फल भी सीमित होता है, अतः मोक्षा-वस्था सान्त है। मोक्षावस्था के कर्म अपना फल स्वयं हैं, अतः मोक्ष की अवधि का विस्तार भी नहीं हो सकता। अलंकारों की ओट में मौलाना का यह विश्वास भी रह-रहकर प्रकट हो जाता है कि वे वर्तमान जीवन के आत्मिक आनन्द को मोक्ष के आनन्द की छाया-मात्र समझते हैं। वेदों के स्वर्ग का विवरण पढ़ने का यह स्पष्ट परिणाम है। वेद ने इस जीवन के पवित्र सुख को स्वर्ग माना है। मोक्ष स्वर्ग की चरम सीमा है, जिसका प्रारम्भ इसी जीवन में होता है।

यदि मौलाना स्वर्ग की यह व्याख्या क़ुर्आन के शब्दों में पाठकों के सम्मुख रखते, तो जहाँ उनका अपनें सम्प्रदाय के भाइयों पर भी

उपकार होता कि उनकी ईश्वर-भक्ति का लक्ष्य केवल आत्मिक आनन्द रह जाता, वहाँ हम भी यह देखकर प्रसन्न होते कि ऋषि दयानन्द के आक्षेपों का उत्तर वही दिया गया है जो स्वयं ऋषि को अभीष्ट था। ऋषि के ये वचन स्वर्णाक्षरों में लिखने योग्य हैं--

"मेरे इस लिखने का लक्ष्य मनुष्यों की उन्नति ही है। सत्यासत्य के ज्ञान के लिए सब मतों का कुछ-न-कुछ ज्ञान आवश्यक है जिससे आपस में तुलना का अवसर मिल सके, ओर लोग एक-दूसरे के दोषों को दूर करके धारण कर सकें।" (सत्यार्थप्रकाश)

हमें खेद है कि मौलाना ने आक्षेपों के उत्तर का यह मार्ग नहीं अपनाया, इसके विपरीत मौलाना का यह प्रयास रहा है कि जिन आक्षेपों को आर्यसमाजी इस्लामी बहिश्त पर करते हैं, उन्हीं का एक रूप वेदों में भी दिखाया जावे। कल्पना कीजिए (वादितोष-न्याय से) कि यदि वेद में वर्जित स्वर्ग में भी वही दोष पाये जाते हैं (जो इस्लामी बहिश्त में हैं) तो क्या इस तर्क से क़ुर्आन दोष से रहित हो जावेगा ? आखिर दो अशुद्धियाँ मिलकर एक शुद्धि कैसे बन जायेगी ? मौलाना लिखते हैं—

"सत्यार्थप्रकाश के १३वें तथा १४वें समुल्लास में दयानन्द ने अन्य मतों के इन विश्वासों पर आक्षेप कैसे किये जबकि उनके घर में (वेदों में) यह सब-कुछ मौजूद था ?" (पृष्ठ ६) मौलाना ने इंजील के भी ऐसे उदाहरण दिये हैं जिनसे 'शराब-कबाब का वर्णन' ईसाई स्वर्ग में भी निकल जाये ताकि यह सबका साँझा मोर्चा बन सके। मौ० को ऋषि दयानन्द से एक गिला है, लिखते हैं—"स्वामी जी के आक्षेपों को पढ़कर खेद होता है कि ऐसा मनुष्य जो स्वयं को सत्य का जिज्ञासु मानता है, क़ुर्आन की आज्ञाओं से इतना अपरिचित है क्योंकि सारे क़ुर्आन में किसी एक स्थान पर भी यह नहीं लिखा कि स्वर्ग के सब पदार्थ इस संसार के पदार्थ हैं अथवा इस जगत् से पूर्ण समानता रखनेवाली कोई वस्तुएँ हैं।" (वेदों का बहिश्त, पृष्ठ ३)

समता पूरी न सही, अधूरी सही, रखती तो है ! क़ुर्आन फ़रमाता है (अतनाने मशबिहन) सूरत बकर ! यही कारण है कि मौ० सनाउल्ला तथा मौ० मुहम्मद इसहाक़ ने स्वर्ग के पदार्थों का रूप वैसे-का-वैसा वर्णन किया है जैसे पदार्थ इस संसार में मिल सकते हैं। ऋषि ने तो

आलोचना के आरम्भ में लिख दिया कि "अरबी क़ुर्आन का जो अनुवाद मौलवी साहेबान ने उर्दू में किया है उसे देवनागरी लिपि में आर्य भाषा का रूप देकर बड़े-बड़े विद्वानों से उसका शोधन कराया गया, फिर वह अनुवाद यहाँ लिखा गया है। यदि कोई कहे कि यह अर्थ ठीक नहीं तो उसे उचित है कि पहले मौलवी साहेबान के अनुवाद की आलोचना करें, तत्पश्चात् इस विषय पर लेखनी उठायें।"

(सत्यार्थप्रकाश, भूमिका १४वाँ समुल्लास)

ऋषि के सामने क़ुर्आन की वे व्याख्याएँ थीं जिनपर ऋषि की आलोचना का स्वस्थ प्रभाव नहीं पड़ सकता था, क्योंकि वे ऋषि के समय के पूर्व की थीं। दुःख तो यह है कि इस स्वस्थ प्रभाव से जो मौलाना प्रभावित हुए और जिन्होंने क़ुर्आन की आयत की अपने विचार में सुन्दर व्याख्या प्रस्तुत की और जिन्हें आप क़ुर्आन के ज्ञान से अपरिचित होने का महत्त्वपूर्ण पद प्रदान न कर सकें, तो वे भी क़ुर्आन के स्वर्ग का अभी वही रूप मानते जिसपर ऋषि का आक्षेप है। सबसे बड़ा अन्याय तो यह है कि आपने वेदों के स्वर्ग में भ्रमण करने के पश्चात् एक सुन्दर तथा पावन दृश्य दर्शकों के सम्मुख रखा तो सही, परन्तु उसकी छाया क़ुर्आन में दिखाने के स्थान पर उल्टा पवित्रता के स्रोत वेद तथा उपनिषदों पर कीचड़ उछालने लगे। मौलाना क्या करें! क़ुर्आन में वैदिक स्वर्ग का दृश्य देखने की इच्छा मन में ही रह गई—"**दिल की दिल ही में रही, बात न होने पाई!**" यह यह हुआ मौलाना के उत्तर का वह भाग जिसे मौलाना लिख नहीं सके। अब देखना यह है कि मौलाना ने पुस्तक में लिखा क्या है?

उनका निश्चय तो था कि इस्लामी बहिश्त पर किये गए आर्यों के आक्षेपों का उत्तर देंगे, परन्तु अपने सम्मुख सत्यार्थप्रकाश का सम्पूर्ण चौदहवाँ समुल्लास ले बैठे हैं। पुस्तक के पृष्ठ २ पर विषय-सूची के अन्त में लिखते हैं—"आरम्भ में वेदों के स्वर्ग का मार्ग प्रशस्त करने के लिए कुछ अन्य आवश्यक विवादास्पद विषय आ गये।" ये अन्य विवादास्पद विषय आवश्यक हैं या नहीं, परन्तु पुस्तक का अधिक भाग उन्हीं से भरा है। इनमें पहला विषय है 'उत्पत्ति'। इस शीर्षक द्वारा मौलाना ने यह स्पष्ट करना चाहा है कि वेदों में भी संसार की उत्पत्ति अभाव से मानी गई है। यह उत्तर है उस आक्षेप का कि केवल **कुन** के कहने से

यह संसार अभाव से कैसे प्रकट हो गया ? इसका वास्तविक उत्तर तो यह था कि अभाव से भाव की उत्पत्ति का दृष्टिकोण क़ुर्आन के व्याख्याकारों का है, स्वयं क़ुर्आन का नहीं। क़ुर्आन ने तो इस मन्तव्य का खण्डन इस प्रकार किया है—**"क्या तुम अभाव से अस्तित्व में आये हो अथवा तुम स्वयं कर्ता हो ?"** यह प्रश्नात्मक इन्कार वस्तुतः आर्यसमाज के त्रैतवाद की स्वीकृति-मात्र है। वेद में तो जहाँ कहा है कि 'अस्तित्व न था' उससे पूर्व कहा है 'अभाव न था' (नासदासीन्नोस-दासीत्तदानीम्) और आगे चलकर कहा है 'यह सब-कुछ अति सूक्ष्म था'। अभिप्राय यह है कि प्रलय के समय कारण का अभाव न था और कार्य का अस्तित्व न था। यह दृश्य संसार सूक्ष्मतम कारण के रूप में विद्यमान था। विशेष जानकारी के लिए इस पुस्तक का प्रथम अध्याय देखें। मौलाना का दूसरा विवादास्पद विषय है 'विराट्पुरुष'। इस्लामी खुदा की कल्पना पर आक्षेप था कि वह एक ससीम व्यक्ति का रूप है जो आकाश पर रहता है, जिसके सिंहासन को आठ फ़रिश्ते उठाते हैं; वह पर्दे की ओट में बात करता है, आकाश-जलों पर स्थित है, आदि। ऋषि से पूर्व क़ुर्आन की जो व्याख्याएँ थीं, उनमें क़ुर्आन की आयात की व्याख्या के स्थान पर फ़रिश्तों, पर्दों, जलों इत्यादि के विचित्र रूप दिये गए थे। और तो और, इस समय भी क़ुर्आन के माननेवालों का मन्तव्य ईश्वर के एक स्थान पर स्थित होने का है, जबकि इस्लाम के मन्तव्य पर ऋषि की आलोचना का प्रकाश पड़ चुका है। उनका तर्क यह है कि 'यदि ईश्वर को सर्वव्यापक माना जावे, तो गन्दगी में भी उसकी सत्ता माननी पड़ेगी जिससे घृणा आती है।' मौ०अब्दुल हक़ यदि इन आयात पर कुछ प्रकाश डाल पाते, तो कोई आक्षेप न रहता, परन्तु मौलाना को ईश्वर का ससीम होना इतना प्रिय है कि वे वेद में भी ईश्वर के स्वरूप में यह दोष देख रहे हैं। जैसा हमने इस पुस्तक के द्वितीय अध्याय में लिखा है कि विराट् पुरुष वस्तुतः असीम का ससीम में चित्रण है। वेद ईश्वर को चतुष्पाद कहता है। मौलाना इसका अर्थ 'चार भागोंवाला' समझे हैं। माण्डूक्य उपनिषद् में इस शब्द की सुन्दर व्याख्या की गई है। पाद का अर्थ है प्रकाशयुक्त ज्ञान की स्थिति; यह ईश्वर-दर्शन की प्रथम स्थिति है जाग्रतावस्था में, दूसरी कल्पनालोक में, तीसरी समाधि और चौथी अवस्था है असीम आत्मसमर्पित ज्ञान

की वह स्थिति जिसमें संसार के नाना रूप हमारे अनुभव में आते हैं, उनकी असीमता नानात्व में एकता का सौन्दर्य है। जैसे हमारे शरीर के अंग जुदा-जुदा हैं, फिर भी एक आत्मा के शरीर में होने के कारण एक-दूसरे के सुख-दुःख में समान होते हैं, यही अवस्था इस सारे विश्व की है। विश्व एक शरीर है, जिसमें एक प्रबन्ध है, जिसका आत्मा ईश्वरीय शक्ति है; इसी को विराट् पुरुष कहते हैं।

क़ुरआन के कुछ भागों पर आक्षेप किया गया था कि वे विज्ञान-विरुद्ध हैं, जैसे प्रलय के दिन आकाश की खाल का उतारा जाना, सूर्य-चन्द्र का इकट्ठा किया जाना, और एक व्याख्याकार के अनुसार नदी में डाला जाना, सितारों का झड़ना, धरती का पर्वतों द्वारा सुदृढ़ किया जाना इत्यादि। मौलाना ने इन बातों को अपने विचार में विज्ञानानुकूल सिद्ध करके यह प्रमाणित किया है कि वेद में धरती-आकाश को दो कटोरे, पर्वतों को खूँटे, धरती को हँडिया और आकाश को ढकना, इसी प्रकार उपनिषद् में सूर्य तथा धरती को क्रमशः अण्डे का सुनहरी तथा रुपहली (चाँदनी) का भाग कहा गया है। मौलाना यज्ञ के पारिभाषिक शब्दों से परिचित नहीं हैं, नहीं तो उन्हें ज्ञात होता कि कटोरे, खूँटे, हँडिया, ढकना, यह सब यज्ञ का सामान है। वेद संसार को ईश्वर का यज्ञ, अर्थात् 'परोपकार के लिए किया गया कार्य' कहता है। इस यज्ञ में विश्व के विभिन्न स्थान किस प्रकार यज्ञ के विभिन्न पदार्थों का कार्य करते हैं, इसकी व्याख्या पुस्तक के तीसरे अध्याय में हमने दी है। अण्डा बिनौला है, जिसे सूर्य तथा नक्षत्रों में विभक्त किया गया है; इन अवस्थाओं का, वैज्ञानिक परन्तु काव्यात्मक वर्णन उपनिषद् में पाया जाता है। मौलाना इसे किसी पक्षी का अण्डा समझ बैठे हैं। इसकी व्याख्या भी उसी स्थान पर देखें।

इन आवश्यक (?) विवादों से, जिनका मुख्य विवादास्पद विषय से दूर का भी सम्बन्ध नहीं, अवकाश पाकर मौलाना ने लोक शब्द के अर्थ पर प्रकाश डाला है। मौलाना 'लोक' का अर्थ संसार करते हैं जो हमें स्वीकार है।

मौलाना के विचार में स्वर्ग मृत्यु के पश्चात् प्राप्त होता है, अतः एक अध्याय इसी की भेंट किया है। वेद में जो दीर्घायु की प्राप्ति की प्रार्थनाएँ की गई हैं, और उसकी प्राप्ति के प्राकृतिक साधन बताए गये

हैं, मौलाना इन्हें वैदिक ऋषियों की भीरुता मानते हैं। शायद उनकी दृष्टि में ईश्वर-भक्ति, मृत्यु की इच्छा का नाम है। हमने वेद-मन्त्रों द्वारा वीरों का धर्मयुद्ध में वीरगति प्राप्त करने की तीव्र कामना, तथा ईश्वर की इच्छा में अपनी इच्छा के लय के सुन्दर चित्र, एवं जीवन तथा मृत्यु दोनों में ईश्वर की कृपा का रूप उपस्थित किया है और बताया है कि दीर्घायु की प्रार्थना व्यक्ति तथा समाज दोनों की ओर से उपयुक्त है; यह कर्त्तव्य है जो धार्मिक भी है तथा राष्ट्रीय भी; सरकार का कर्त्तव्य है और प्रजा का भी, और आधुनिक युग में कोई भी राज्य अपने इस कर्त्तव्य से आँख नहीं मूँद सकता। वेद ने इसपर उचित बल दिया है।

मृत्यु के पश्चात् मौलाना कब्र के दुःख की चर्चा ले बैठे हैं। मनुष्य के शरीर को उल्टा वृक्ष (**ऊर्ध्वमूलं अधःशाखा अश्वत्थ**) और पृथिवी को नश्वर जगत् का कारण होने से जगत् को पृथिवी (ख़ाक) कहना आर्यों की दैनिक बोलचाल में प्रयुक्त होता रहा है। आर्य साहित्य की प्रसिद्ध उक्ति है, वेद में जहाँ कहा है 'ऐ पृथिवी! तू मनुष्य को दबा न ले' अथवा 'ऐ वृक्ष (शब्द)! तू इसपर भारी बोझ न डाल', ऐसे स्थलों पर मौलाना को कब्र के कष्ट याद आये हैं। वे वृक्ष का अर्थ ईंधन करके शव को जलाने से रोकने की आज्ञा देख पाये हैं। वेद का अभिप्राय है सांसारिक वासनाओं में डूबने से बचाने का और मौलाना की कल्पना में वेद का रचयिता अग्नि जलाकर उससे प्रार्थना कर रहा है कि यह शव तो तुझे अर्पित किया है, इसे आँच न आने देना! पितृलोक की व्याख्या में मौलाना सनातनधर्मी बन गये हैं। देखा जाये तो वे प्रगतिवादी सनातनियों से भी दो पग आगे बढ़ गये हैं! उनका अर्थ है कि पितर का अर्थ जीवित माता-पिता तो होता ही नहीं। उन्होंने इसके लिए आर्यों से प्रमाण माँगा है। मौलाना कल को शायद यह भी पूछ लें कि पिता के अर्थ जीवित पिता कैसे होते हैं? पितृ शब्द का प्रथम पुरुष के एकवचन का रूप बनता है 'पिता' और बहुवचन 'पितरः', जिसे लोकभाषा में 'पितर' कहते हैं। इसके अर्थ हैं पूर्वज। सनातनियों में तथा मौलाना में अन्तर इतना है कि जहाँ सनातनी मृतक सम्बन्धियों का श्राद्ध करते हुए आवागमन को मानते हैं, वहाँ मौलाना इन दोनों (आवागमन तथा मृतक श्राद्ध) सिद्धान्तों को एक-दूसरे के विरुद्ध

मानते हैं। हमने आवागमन के पक्ष में कुछ प्रमाण प्रस्तुत किये हैं और पितृलोक की व्याख्या भी की है। पितृलोक का अर्थ है माता-पिता का घर; पितर बनना अर्थात् वृद्धावस्था का समय। लोक के अर्थ मौलाना के कथनानुसार संसार तथा पितृ का अर्थ माता-पिता का है। मौलाना ने पितरों को नाना प्रकार की भेंट देने का वर्णन कई बार किया है। वैदिक भाषा में इसे 'स्वधा' कहते हैं। वेद अपनी चमत्कारपूर्ण भाषा में इस शब्द की व्याख्या करता है जो हमारे विचार में इस विवाद का निर्णय कर देती है—

"विस्तृत जगत् में स्थित हो, यह पार्थिव जगत् तेरा मार्ग न रोके, जो स्वधा (मार्ग-व्यय के लिए कमाई) तूने जीते-जी कमाया है वह तेरे लिए मिठास टपकानेवाला हो" (अथर्व० १८-२-२०)। यहाँ तो मनुष्य को स्पष्ट आदेश है कि जीते-जी इसी जीवन में ही अपने लिए 'स्वधा' का संग्रह कर! यही मार्ग का धन तेरे काम आवेगा, इहलोक तथा परलोक दोनों में काम आवेगा। वेद वियुक्त परिवार (जीवित) को स्वधा देने के आदेश नहीं देता। जीवित पितर के लिए स्वयं कहता है कि अपना मार्गधन स्वयं साथ ले। स्वधा शब्द के निर्वचन से भी यही अर्थ निकलता है 'स्वयं जोड़ा हुआ'। वेद में पितरों की सेवा-सुश्रूषा की आज्ञा दी गई है। जीवित पितर तो स्वयं आएँगे-खाएँगे, आशीष देंगे; मृतक तो किसी जीवित स्थानापन्न द्वारा ही हमारी सेवा से लाभ उठा सकेंगे। यदि वेद में स्वयं खाने का वर्णन हो, तो पितर 'जीवित' मानने होंगे। यदि स्थानापन्न के द्वारा खिलाने का वर्णन हो, तो मरे हुए पितरों की बात ठीक है। हमें यह अधिकार नहीं कि वेद का अभिप्राय समझने के लिए स्थानापन्न की कल्पना स्वयं कर लें। वेद ने स्थानापन्न जैसे आवश्यक तत्त्व का संकेत भी नहीं किया, अतः वेद के दरबार में क़ुर्आन और पुराण का मौलाना द्वारा कराया समझौता सफल नहीं हो पाता।

पितृलोक के (आलमे-बरज़ख) होने में मौलाना ने Spiritualism की साक्षी प्रस्तुत की है (आलमे-बरज़ख उस काल को कहते हैं जो मृत्यु के पश्चात् प्रलयकाल तक का समय इस्लामी मन्तव्य में होता है)। दार्शनिक जगत् में Spiritualism का अर्थ है—आत्मा की वास्तविकता का दृष्टिकोण; मृतक की आत्मा से वार्तालाप का तमाशा तो दार्शनिकों

की दृष्टि में Spiritualism प्रेतवाद कहलाता है। इसी सन्दर्भ में मौलाना ने प्रसिद्ध दार्शनिक जेम्स का वर्णन किया है। मौलाना के विचार में जेम्स अथवा उनकी संस्था प्रेतवाद को मानती है। दार्शनिक लोग प्रायः इस प्रकार के चमत्कारों पर विश्वास नहीं करते। जेम्स अपनी प्रसिद्ध पुस्तक (मज़हबी मुकाशफ़ात) में लिखते हैं—"मेरे विचार में मृतकों की आत्माओं की वापसी-सम्बन्धी घटनाएँ कहीं नहीं मिलतीं।" केवल जेम्स की ही बात नहीं, मनोविज्ञान के किसी विद्वान् ने Spiritualism का दृष्टिकोण अपनी किसी रचना में प्रस्तुत नहीं किया। दोहरा व्यक्तित्व (Secondary personality) अथवा बहुव्यक्तित्व (Multiple personality) का विचार दार्शनिकों के विचाराधीन रहा है, परन्तु उसकी व्याख्या किसी मृतक की आत्मा के किसी अन्य जीवित शरीर में आने से नहीं की गई, अपितु एक ही व्यक्ति का बौद्धिक विश्लेषण विभिन्न कालों में तथा विभिन्न वातावरण के आधार पर किया गया है। अनुभव से भी यह दृष्टिकोण सत्य पाया गया है कि एक ही मनुष्य पर विभिन्न समयों में नाना प्रकार की बौद्धिक अवस्थाएँ गुज़रती हैं। कुछ लोगों की बौद्धिक अवस्थाएँ आपस में एक-दूसरी से सर्वथा असम्बद्ध होती हैं। इसका परिणाम यह होता है कि एक व्यक्ति एक समय में जो राम था, वही एकदम दूसरे समय में श्याम बन जाता है। यह अवस्था घण्टों भी रह सकती है, दिनों, मासों अथवा वर्षों तक भी रह सकती है। ऐसी घटनाएँ विचार का विषय रही हैं जब एक स्त्री एक विशेष आयु में आकर अपना पूरा अतीतकाल ही भूल गई; उसने अपना नया जीवन प्रारम्भ किया, कुछ वर्ष वही अवस्था रही, फिर उसका अतीत उभर आया। बृहदारण्यक-उपनिषद् में ऐसी दो स्त्रियों का वर्णन है। उपनिषद् की भाषा में ऐसे व्यक्ति को गन्धर्वगृहीत कहते हैं। गन्धर्व का अर्थ यजुर्वेद (५८।४३) में मन किया गया है। जिस व्यक्ति का साधारण मन किसी असाधारण परिस्थिति में अपनी दैनिक अवस्था को भूल जाता है वह गृहीत अथवा प्रभावित मनवाला, दूसरे शब्दों में 'गन्धर्वगृहीत' कहलायेगा। डॉ० प्रिन्स अपनी प्रामाणिक पुस्तक '**गैर महसूस**' में लिखते हैं—

"स्वप्न, चमत्कार, हिप्नॉटिज़्म की अवस्था में, अथवा संज्ञाहीन होने पर, बिना विचार के लेख द्वारा अनुभूतिहीन दृश्य अथवा भूले हुए

ज्ञान का फिर उभर आना, स्मृति के अतिरिक्त वैसे भी दिलचस्पी से खाली नहीं। ऐसी घटनाएँ प्राय: उन अनुसन्धान की गई अवस्थाओं की जिनका Spiritualism में दुरुपयोग किया गया है, उपयुक्त व्याख्या कर जाती हैं।" (पृष्ठ ५६)

इस परिणाम के अनुमोदन में उक्त डॉ० साहब ने कई देखी हुई घटनाएँ भी दी हैं। सारी पुस्तक इन अनुभवों के वर्णन से भरी हुई है। निम्न घटना उक्त वैज्ञानिक संस्था की कार्यवाही से जून मास में लिखी है—"इस बिना विचारे लेख में जो एक मृत मित्र अण्ट नाम के व्यक्ति से सिप्तरिज़्म के द्वारा प्राप्त किया सन्देश था, एक महत्त्वपूर्ण वाक्य पाया जाता है–'उससे कह दो कि यह उस मित्र की ओर से है जो पङ्गूरों और पङ्गूरों से सम्बन्धित वस्तुओं से प्यार करता था'। इस वाक्य के अर्थ मिसेज़ हालैंड के नाम आये ऊपर के पत्र से स्पष्ट हुए। इस पत्र को आये बीस वर्ष हो चुके थे। यह अण्ट के एक मित्र की ओर से आया था, और उसमें अण्ट की दित्सा (वसीयत) का यह वाक्य लिखा था—'क्योंकि मैं पङ्गूरों तथा पङ्गूरों से सम्बन्धित वस्तुओं को पसंन्द करता हूँ।' जब मिसेज़ हालैंड पुराने पत्रों को फाड़ रही थी, तब उसकी दृष्टि उस पत्र पर पड़ी।" (पृष्ठ २२)

मिसेज़ हालैंड ने बीस वर्ष पूर्व एक वाक्य अपने मित्र के पत्र में पढ़ा था; अब वह पत्र भी भुला चुकी थी, और वाक्य भी। एक विशेष परि-स्थिति में जब उसका मन दूसरे व्यक्तितत्व के प्रभाव में आया, अथवा उपनिषद् के शब्दों में गन्धर्वगृहीत हो गया, तो उसने बिना विचारे यह वाक्य लिख दिया। Spiritualism के पोषकों ने इसे किसी मृतक की आत्मा का सन्देश बनाया। परन्तु पुराने पत्रों को फाड़ते हुए एक पुराने पत्र में यह वाक्य लिखा हुआ मिल गया। इससे पता लगा कि यह किसी मृतक की आत्मा का सन्देश नहीं, अपितु इसे अपनी ही एक सुरक्षित परन्तु वर्तमान अवस्था में भूली हुई एक मानसिक अवस्था के जागरण का दृष्टिकोण ही स्वीकार करना पड़ता है। Spiritualism केवल चमत्कार ही है। मौलाना के आलमे-बरज़ख का आधार यदि यही Spiritualism ही है, तो विद्वानों की दृष्टि में इसका क्या मूल्य होगा, इसकी कल्पना सरलता से की जा सकती है।

इन सब कठिनाइयों को पार करने के पश्चात् मौलाना अन्त में

स्वर्ग के विषय पर आते हैं। पहले तो स्वर्ग शब्द को तोड़कर अर्थ किया है, सु=प्रसन्नता+रग=जाना। हमने किसी व्याकरण में अथवा कोष में तोड़-मरोड़के ये अर्थ नहीं पाये हैं। इसके पश्चात् स्वर्ग का रूप और उसके साथ धातु गम् (जाना) और रूह (चढ़ना) के प्रयोग के उदाहरण देकर फ़रमाया है कि स्वर्ग कोई स्थानविशेष है। यह मौलाना की संस्कृत से अनभिज्ञता का परिणाम है। यह धातु अवस्थाओं के साथ वैसे प्रयुक्त होते आये हैं जैसे किसी विशेष स्थान के साथ।

स्वर्ग अथवा स्वर्गलोक का अर्थ है आनन्द का संसार। जहाँ प्रकाश तथा सुख हो उस अवस्था को स्वर्ग कहा जाता है। जिस काल में यह प्रकाश तथा सुख प्राप्त हो, उस अवस्था को स्वर्ग कहते हैं। मोक्ष सर्वोत्तम स्वर्ग है। वहाँ जैसा कि ऋग्वेद ९-११३ में वर्णन है, आनन्द तथा प्रकाश की चरम सीमा है वह प्रकाश तथा आनन्द आत्मिक है। परन्तु उसका अपूर्ण चित्र इस भौतिक जगत् में भी मिलता है। सुखी गृहस्थाश्रम विशेष रूप में स्वर्ग है; वेद में इसे विष्टारी-विस्तारी, अपनी (वंश) नस्ल के विस्तार का यज्ञ कहा गया है, इसमें दूध, घी, मधु, साफ़ जल इत्यादि पवित्र पदार्थों का बाहुल्य है। मौ० अब्दुल्ला चकड़ालवी शराब का यही अर्थ लेते हैं। यहाँ पर तालाब हैं, उनमें कमल खिल रहे हैं, राग-रंग की बहार है। परन्तु इन सबके साथ एक शर्त भी है, वह है यम की, जिसका अर्थ है तपस्या, इन्द्रियों पर विजय। विस्तारी अर्थात् (वंश) नस्ल के विस्तार के यज्ञ को वही कर सकता है जो गृहस्थाश्रम में इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर ले, उसके लिए यह लोक सुख का लोक है, स्वर्गलोक है। इस लोक में माता, पुत्री, बहू, पत्नी, सतीत्व का साकार रूप देवियाँ हैं, जिनका सामीप्य इस भौतिक जगत् को आनन्द तथा प्रकाश का लोक बना देता है। यह स्वर्ग है, देवियों का स्वर्ग। स्वाभाविक रूप से वेद में ऐसे लोकों में स्त्रियों के लिए बहुवचन का प्रयोग हुआ है। मौलाना ने उन्हें हूरो कचरे (जमघट) कहा है। उन्हें वेद में बहुविवाह की आज्ञा भी नज़र आई है। कई मन्त्रों में तो स्पष्ट माता, भगिनि अथवा बहिनें शब्द का प्रयोग विद्यमान है यथा ऋग् ९-१-७ और ९-६६-८ में, परन्तु मौलाना ने इस शब्द से आँख मूँद ली। वेद के दो प्रमाण हमने यह स्पष्ट करने के लिए प्रस्तुत किये हैं कि वेद में बहु-विवाह का निषेध है। एक मन्त्र में पत्नी के स्वाभिमान का चित्र खींचा

है, दूसरे में दो स्त्रियोंवाले पति को दो धुरों में दबे बैल के रूप में अंकित किया है। बहुविवाह-सम्बन्धी सभी दोष इन दो चित्रों में संसार के सबसे प्रथम गुरु ने (स पूर्वेषामपि गुरुः) पूरे संक्षेप तथा पूरी स्पष्टता से अपने ज्ञान में मनुष्यों को बता दिये हैं।

वैदिक धर्म के माननेवालों की प्रायः यह उक्ति भी है कि वे शरीर को नौ द्वारों वाली नगरी कहते हैं। यह उक्ति भी वेद से ली गई है। वेद में इस नगरी को ब्रह्मपुरी, देवपुरी इत्यादि नाम दिये गये हैं। इन नामों को देने का अभिप्राय यह स्पष्ट करने से है कि मनुष्य इसी शरीर में ब्रह्म की प्राप्ति कर सकता है, दूसरी योनियों में यह सम्भव नहीं। मौलाना ने इसमें ईश्वर का भवन और न जाने क्या-क्या काल्पनिक चित्रों की भरमार की है। इस स्वर्ग में इन्द्रियों की शक्ति तथा उससे प्राप्त पवित्र सुख को पवित्र देवियों के रूप में चित्रित किया है। प्रातः-काल को प्रातः की दुल्हन, युवा प्रातः कहकर आत्मिक प्रातः के प्रकाश को पवित्र स्त्री के रूप में कहा है। इससे जहाँ स्त्री जाति के महत्त्व को अंकित किया है, वहाँ उस सतीत्व की पवित्रता को भी दृष्टि के सम्मुख लाया गया है। युवा स्त्री सतीत्व की मूर्ति होती है, यही अवस्था आत्मिक उपलब्धियों की है।

क़ुर्आन के बहिश्त में हूरों (अप्सराओं) का वर्णन है। उनका रूप हम मौ० मुहम्मद इसहाक़ के शब्दों में लिख चुके हैं। बहिश्त को केवल आत्मिक सुख का उद्यान प्रमाणित करने की इच्छा रखनेवालों के मार्ग में हूरों का नख-शिख वर्णन, दिल लुभानेवाले सौन्दर्य का बखान, और फिर हूरों से विवाह की प्रतिज्ञा, बाधा उपस्थित करते हैं। मौलाना को भी इन पवित्र बीवियों के विवाह के आदेश के पारितोषिक में सम्मिलित होना महँगा पड़ा है, इस विचार से कि पुरुषों तथा स्त्रियों की प्राप्ति में कहीं नाबराबरी की बात न आ जाये। मौलाना पृष्ठ ४ के बारे में लिखते हैं—"स्त्रियों से अभिप्राय केवल स्त्रियाँ ही नहीं, क़ुर्आन में इनके अर्थ दृष्टान्त-रूप से लगते हैं। स्त्रियों के लिए पुरुष तथा पुरुषों के लिए स्त्रियों का विवाह लिखा है। पवित्र स्त्रियों से अभिप्राय पवित्र समाज है, क्योंकि यह वचन केवल पुरुषों को ही नहीं दिया।"

मौलाना! पवित्र स्त्रियों की यह व्याख्या अहमदी विद्वानों की नवीन व्याख्या है, परन्तु यह नख-शिख जो ऊपर लिखे हैं, क्या वह पुरुषों

के भी हो सकते हैं? बहुत ही अच्छा हो, यदि भविष्य में अहमदी मित्र स्वर्गलोक को यही गृहस्थाश्रम ही मान लें। शब्द 'पवित्र स्त्रियाँ' भी बहुवचन में चाहे आया है, परन्तु उनका वचन भी मुसलमानों को दिया गया है, एक मुसलमान से नहीं। बहुत-से पुरुषों की स्त्रियाँ भी बहुत-सी होंगी ही, परन्तु उसके लिए आवागमन के सिद्धान्त को स्वीकार करना पड़ेगा।

अस्तु, इस्लामी बहिश्त में हूर, ग़िलमान (सुन्दर लड़के) हैं तो वेद में अप्सरा तथा गन्धर्व का वर्णन मौलाना को मिला है। गन्धर्व-अप्सरा के वर्णन में मौलाना खुल खेले हैं; प्रकरण तथा उक्ति पर कौन ध्यान दे? मौलाना ने इन स्थानों पर कल्पना की उड़ान भी खूब ली है। बात को बढ़ाने या घटाने के यह उदाहरण कि माता-बहन का स्पष्ट वर्णन होते हुए भी मौलाना ने पत्नी अर्थ ही किया है, इसका वर्णन कर ही चुके हैं। गन्धर्व के निर्वचन से अर्थ है 'वाणी को धारण करनेवाला', सो प्रथम तो ईश्वर अनादि काल से वाणी (काव्य) का गुरु होने के कारण गन्धर्व है, इसका प्रमाण हमने स्वयं वेद से दिया है। अप्सरा के अर्थ भी स्वयं वेद ने दिये हैं। यजुर्वेद (१८/४४) में निर्वचन के आधार पर इसके अर्थ हैं—'यज्ञ में साथ देनेवाली'। गन्धर्व 'गवैये' को भी कहते हैं, क्योंकि वह भी 'वाणीयुक्त' होता है; बोलने की शक्ति पर जो अधिकार उसे प्राप्त है, और किसी को कम हो सकता है। सामवेद के गानेवाला भी गन्धर्व है, और अश्लील गीतों का गवैया भी। गन्धर्व उस्ताद भी है और उस्तादजी भी। वेद ने उस्ताद का संग करने की आज्ञा दी है, और उस्तादजी को सन्मार्ग पर लाने की शिक्षा दी है। यह न हो सके तो उससे दूर ही रहना चाहिये। गन्धर्व के अर्थ ऐसे स्थलों पर दुःख देनेवाले के भी हैं। मौलाना ने इसे ग़िलमान का बदल समझ लिया। उन्हें यह विचार न आया कि जिनके संग से दूर रखा जा रहा है, वे स्वर्ग के अमूल्य पदार्थों में कैसे गिने जा सकते हैं? गन्धर्व के अर्थ गाने-बजाने वाला लिखकर मौलाना ने उसमें 'लड़के-लड़कियाँ' अपनी ओर से बढ़ा दिया है। मौलाना की और योग्यताएँ तो ज्ञात थीं, ईश-कृपा से आप कोष के रचयिता भी हैं, इसकी आपको बधाई! परन्तु इस प्रकार अपनी ओर से शब्द बढ़ाने से मौलाना का क्या अभिप्राय है, इसका पता नहीं चला। वैसे मौलाना ने पुस्तक तो लिखी ऋषि दयानन्द के प्रश्नों का

उत्तर देने के लिए, अतः यदि आक्षेपकर्ता को अपनी रचनाओं से भी उत्तर देना था, तो ऋषि के वेदभाष्य के आधार पर दिया जाता, अथवा उस भाष्य की अशुद्धि दिखाकर दूसरे अर्थ लिखे जाते, परन्तु उनकी पुस्तक पढ़ने से पाठक पर यह प्रभाव पड़ता है कि शायद वे ऋषि के भाष्य का आधार ले रहे हैं, विशेष रूप से जब वे लिखते हैं—"स्वामी दयानन्द की विचित्र व्याख्या।" एक और स्थान पर फ़रमाते हैं—"इस मन्त्र के भाष्य में यद्यपि स्वामी दयानन्द ने बहुत गड़बड़ की है।" (पृष्ठ ३५) इससे पाठक स्वभावतः इस भ्रम में आ जाता है कि मौलाना ने अन्य स्थानों पर भी ऋषि के भाष्य को लिया होगा। परन्तु सत्य यह है कि ऋषि दयानन्द के वेद-भाष्य को मौलाना ने स्पर्श भी नहीं किया। और तो और, महीधर के यजुर्वेद-भाष्य के उस घृणित अंश को भी, जिसका खण्डन ऋषि दयानन्द ने किया है, ग्रिफ़िथ के इस नोट के साथ कि यह लिखने योग्य नहीं है, मौलाना उसे भी देने से नहीं चूके। क्या आर्यसमाज महीधर के भाष्य को प्रमाणित मानता है? एक स्थान पर बृहदारण्यक को बृहदारण्य लिख दिया है जिससे ज्ञात होता है कि आपके अनुवाद का आधार कोई अंग्रेज़ी भाषा का अनुवाद है जिसमें शब्दों के शुद्ध लिखने पर ध्यान नहीं दिया गया। परन्तु क्या आंग्ल-भाष्यकार ने भी, जहाँ माता तथा बहिन का स्पष्ट वर्णन है, वहाँ बहु-विवाह की कल्पना अपने मन में बिठा रखी थी? अथवा, मौलाना उस भाष्य को समझ नहीं सके? या, यह हो सकता है कि मौलाना ने जान-बूझकर वेद के आवश्यक शब्दों का अनुवाद छोड़ दिया, और पाठकों को भ्रम में डाला। एक धर्म के प्रचारक से जान-बूझकर किसी पुस्तक के मूल सत्य को छिपाने की हम आशा नहीं कर सकते। पुस्तक के अन्तिम अध्यायों में हमने मौलाना के कर्म, कर्ता तथा क्रिया तक पर ध्यान न देने के उदाहरण प्रस्तुत किये हैं।

हमें प्रसन्नता है कि भाषा तथा व्याकरण से इतनी अनभिज्ञता पर भी मौलाना ने वेदों के स्वर्ग जैसे महत्त्वपूर्ण विषय पर लेखनी उठाने का साहस किया है। साहस प्रशंसनीय है, परन्तु धार्मिक जगत् में ऐसे साहस अज्ञान तथा भ्रम के विस्तार का कारण बन जाते हैं। पुस्तक के अन्त में एक विज्ञापन दिया है "वेदों का उर्दू-भाष्य, प्रामाणिक, पुराने भाष्यों के आधार पर एक योग्य हिन्दू विद्वान् तथा मौ० अब्दुल हक़ की

देख-रेख में प्रकाशित हो रहा है।" यदि उस भाष्य का रूप यही है, जो इस पुस्तक में दिया है तो हम मौलाना से निवेदन करेंगे कि वे इसकी देख-रेख तथा प्रकाशन बन्द ही कर दें।

मौलाना की पुस्तक मूल रूप में १३२ पृष्ठ की है, चार अतिरिक्त पृष्ठ आरम्भ में विषय-सूची तथा 'वेदों के स्वर्ग की वास्तविकता' के सम्मिलित कर दिये हैं। पृष्ठ २ पर लिखा है—"इन पृष्ठों में मैंने विषय के सम्बन्ध में केवल सामग्री एकत्रित कर दी है, इसे सँवारना तथा व्याख्या में लाना अन्य व्यक्तियों पर छोड़ दिया है।" व्याख्या तो पुस्तक में कर दी गई है, परन्तु (शायद) मौलाना उससे सन्तुष्ट नहीं। अन्तिम दस पृष्ठ वैदिक धर्म पर आक्षेप के सम्मिलित किये हैं। हमने प्रायः मौलाना के क्रम को अपनी पुस्तक में लिया है, कहीं-कहीं वेदमन्त्रों का क्रम विषय के आधार पर बदल दिया है और कहीं-कहीं जहाँ एक मन्त्र का अनुवाद हो चुका है, दूसरी बार नहीं किया गया, और पीछे के अनुवाद का संकेत कर दिया है। आक्षेपों में जो पुस्तक का मूल रूप है, अन्तर देने में सुविधा ला दी है। 'विषय-सूची' शीर्षक के नीचे झट मौलाना ने यह नोट दिया है—"इस पुस्तक के सब प्रमाण वेदों से दिये गये हैं। दूसरी पुस्तकों को केवल उनके अनुमोदन में प्रस्तुत किया गया है।" दूसरे शब्दों में, आर्यसमाज के मन्तव्य 'वेद स्वतः प्रमाण है' को मौलाना ने ध्यान में रखा है। दूसरी पुस्तकों के प्रमाण केवल उस अवस्था में दिये जा सकते हैं, जब वे वेदानुकूल हों। जिस प्रमाण की अनुकूलता, वेद से नहीं होगी, उसका उत्तरदायित्व आर्यसमाज पर नहीं आता। काश कि मौलाना ने पुस्तक के आरम्भ से अन्त तक यह आवश्यक दृष्टिकोण अपनाया होता! वे कई विषयों में मनुस्मृति, कौषीतकी, उपनिषद् का ही प्रमाण देकर आर्यसमाज से उत्तर देने का आग्रह कर पाये हैं। आर्यसमाज का मन्तव्य स्पष्ट है कि जो वेदानुकूल हैं हमें स्वीकार हैं, इसके अतिरिक्त किसी पुस्तक के लिखे के हम उत्तर-दायी नहीं। किसी ग्रन्थ में कब प्रक्षेप हुआ, अथवा कोई भाग कब कम हुआ यह एक ऐतिहासिक प्रश्न है और साहित्य के विद्वान्, उसका उत्तर देने लगे हैं। ऐसे प्रश्नों का उत्तर हमने नहीं दिया। मौलाना अपनी पुस्तक लिखने के पश्चात् भी आर्यसमाज के इस्लाम पर किये आक्षेपों के अपने उत्तर से स्वयं सन्तुष्ट नहीं लगते; पृष्ठ ४ के नीचे लिखते हैं—

"इन प्रश्नों के उत्तर आपको **तसदीक़े बुराहीने अहमदिया** नूरउलदीन द्वारा रचित 'चश्मारा मआरफ़त' और अधिक विस्तार के साथ पुस्तक बयानुलक़ुर्आन' में मिलेंगे।"

'बयानुलक़ुर्आन' की स्वर्ग-सम्बन्धी कल्पनाओं की हमने पुस्तक के अन्त में संक्षेप से विवेचना की है। यद्यपि ये कल्पनाएँ वर्तमान युग के इस्लाम से बहुत दूर की हैं, तो भी इन व्याख्याओं में ऐसे भाग हैं जो विशुद्ध अध्यात्म के विरोधी हैं, और जैसा कि हम ऊपर लिख चुके हैं, असन्तुष्ट अहमदी व्याख्याकारों के मानसिक असन्तोष का चित्र हैं। विजित देशों की कुलीन स्त्रियों को मुसलमानों के लिए स्वर्ग की हूरें बताना, इस्लाम के अध्यात्म-क्षेत्र के विज्ञ विद्वानों की दृष्टि में, कोई मज़हब की सेवा नहीं है। स्वर्ग दो हैं—एक सांसारिक, दूसरा पारलौकिक। हमने मौलाना को सम्मति दी है कि सांसारिक स्वर्ग को यदि वैदिक स्वर्ग के समान, यहाँ के गृहस्थाश्रम का सुख ही मान लें, और इसके साथ यदि आवागमन का सिद्धान्त भी स्वीकार कर लें जिसके समर्थन में हमने क़ुर्आन की आयात के प्रमाण भी वहीं दिये हैं, तो जहाँ स्वर्ग की शारीरिक सम्पदाओं की व्याख्या सरल हो जावेगी, वहाँ आर्यसमाज तथा इस्लाम में सैद्धान्तिक मतभेद भी कम हो जावेगा।

मौलाना अब्दुल हक़ के धर्म के उद्यान, सतीत्व तथा पवित्रता की शम्अ (दीपक) के अलंकार-वर्णन में हमें आनन्द आया है। मूल शब्दों में तथा अलंकृत वर्णन की भाषा में कुछ विषमताएँ तो आई हैं, परन्तु उसका भाव वेदों के स्वर्ग पर पूरा लागू होता है। परमात्मा मौलाना को शक्ति दें कि वे वैदिक धर्म के इस पवित्र प्रकाश से क़ुर्आन के बहिश्त को प्रकाशित तथा उज्ज्वल बना सकें। उनकी यह इच्छा उनके शब्दों से भी स्पष्ट होती है। हमारा तथा उनका हार्दिक अभीष्ट तो एक ही लगता है। यदि सचमुच क़ुर्आन वेद के अनुकूल हो जावे, तो वास्तव में एक पवित्र गन्धर्व-लोक की अवस्था उपस्थित हो जावे। उपनिषद् के शब्दों में—'असतो मा सद्गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय, मृत्योर्मा अमृतं गमय।

या रब ! हमें तह्क़ीक़[1] की तौफ़ीक़[2] अता कर
दे ज़ौक़े[3]-सदाक़त[4], हज़्ज़े-बातिल[5] को मिटा कर
इस कुलवाए[6]-तारीक में हो जलवाए-खुरशीद[7]
कर शामे-फ़ना महव,[8] अयाँ सुब्हे-बक़ा[9] कर।

—चमूपति

१. सत्य की जिज्ञासा, २. सामर्थ्य, ३. इच्छा, शौक, ४. सत्य, ५. असत्य का सुख (लोभ), ६. अन्धेरी कोठरी, ७. सूर्य, ८. मिटा दे, ९. अमरपद की प्रात।

सृष्टि-उत्पत्ति

१. तब न अभाव था, न भाव; न आधार था, न आधेय; कौन कहाँ किसके घेरे में था ? कौन कहाँ किसकी शरण में होता ? अति सूक्ष्म प्रकृति किस अवस्था में थी ?[1]

२. पूर्ण मौन तथा शान्त वातावरण था, तम से आच्छादित था, आरम्भ में वह सब-कुछ पहचान से परे था; भाव, जो पूर्णरूपेण अभाव की ओट में छिप रहा था, तब ज्ञान के प्रकाश से प्रकट हुआ ।[2]

३. सर्वप्रथम काम=कामना=इरादा हुआ; वह ज्ञान का बीज था । मनीषियों ने गहरे चिन्तन से एकाग्र होकर हृदय में अभाव से भाव का सम्बन्ध जाना ।[3]

मौलाना ने एक-दो और वेद-मन्त्रों का भी अनुवाद किया है। परन्तु उनके आक्षेप प्रायः इन तीन मन्त्रों पर हैं। पुस्तक के अन्त में उन्होंने आक्षेपों की सूची दी है। वे लिखते हैं—

जब अभाव तथा भाव दोनों किसी समय नहीं थे···तो फिर आर्य-समाज का अभाव से भाव की उत्पत्ति न मानना वेद-विरुद्ध क्यों नहीं ?

श्रीमान् जी ! इसलिए, क्योंकि आरम्भ में अभाव भी तो नहीं था ! यदि लिखा होता कि तब अभाव था, तो उससे भाव की उत्पत्ति मान ली जाती। वह अवस्था तो न अभाव की थी, और न भाव की। तब अभाव से भाव की उत्पत्ति कैसे मान ली जाय ? **तब कारण का अभाव**

---

१. नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत्। किमावरीवः कुह कस्य शर्मन्नम्भः किमासीद्गहनं गभीरम् ।। (ऋ० १०-१२९-१)

२. तमासीत्तमसा गूळ्हमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम् । तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत् तपसस्तन्महिनाजायतैकम् ।। (ऋ० १०-१२९-३)

३. कामस्तदग्रे समवर्तताधि, मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्। सतो बन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा ।। (ऋ० १०-१२९-४)

न था, कार्य का भाव न था, मूल असत् न था, परिणाम सत् न था, कारण के अस्तित्व से कार्य प्रकट हुआ।

मौलाना का दूसरा आक्षेप है—इस बात का क्या प्रमाण है कि यह वर्णन प्रलयकालीन समय का है? सृष्टि के आरम्भ-काल का नहीं? अथवा इस सारे सूक्त में कौन-सा शब्द प्रलय के अर्थ का सूचक है?

यह समय (वर्णित) सृष्टि के आरम्भ का ही है। प्रलय की समाप्ति है और उत्पत्ति का प्रारम्भ। यही तो आर्यसमाज का सिद्धान्त है कि प्रलय तथा सृष्टि का प्रवाह शाश्वत है। आपके ही मतावलम्बी श्री मुहम्मद इसहाक ने अपनी पुस्तक **हदूसे रूहो-माद्दा** (आत्मा तथा प्रकृति की नश्वरता) में इस अनादि प्रवाह को स्वीकार किया है। वे उस समय में ईश्वर के अतिरिक्त किसी अन्य वस्तु का अस्तित्व स्वीकार नहीं करते। किन्तु जैसा मैंने उस पुस्तक के उत्तर **'जवाहिरे-जावेद'** में वर्णन किया है कि ईश्वर से भिन्न अन्य वस्तु का अभाव—वास्तविक अभाव नहीं, व्यावहारिक अभाव--था, अर्थात् अनादि प्रकृति तथा जीव स्वरूप से तो विद्यमान थे, व्यवहार से नहीं। स्वयं क़ुर्आन में भी वर्णन आया है—"क्या बीती है मनुष्य पर वह घड़ी ज़माने में, जब न थी कोई वस्तु वर्णनीय।" (सूरत इनसान आयत) अर्थात् मनुष्य (जीव) उस समय वर्णन के योग्य न था।

यदि सर्वथा अभाव ही क़ुर्आन को अभीष्ट होता, तो वस्तु के लिए 'वर्णनीय' विशेषण न लगाया जाता। वेद ने अप्रकेत अर्थात् पहचान से परे कहा; कुर्आन ने अवर्णनीय कहा; भाव एक ही है। सर्वथा अभाव से भाव की उत्पत्ति का क़ुर्आन में स्पष्ट खण्डन है, इसलिए लिखा है—"क्या तुम बनाए गए हो केवल लाशों से, अथवा हो तुम स्वयं बनाने-वाले?" इस निषेधात्मक प्रश्न से स्पष्ट है कि न तो सृष्टि ही अभाव से हुई और न कर्ता के बिना स्वयं हो गई। यदि मौलाना को इस शाश्वत प्रवाह का प्रमाण,वेद से अभीष्ट है, तो लीजिये, वेद फ़रमाता है—"सूर्य और चन्द्रमा (सूर्य से लेकर चन्द्रमा तक) और आकाश तथा पृथिवी (आकाश से लेकर पृथिवी पर्यन्त) तथा अन्तरिक्ष, ईश्वर ने यथा-पूर्व उत्पन्न किये।" यह सब सुख का सामान है। हमारा विचार है कि क़ुर्आन ने भी निम्नलिखित आयत में इसी अभिप्राय को स्पष्ट किया है—"जब लपेट लेंगे आकाश को, जैसे लिपटता है गड्डा कागज़ों का,

जैसे की थी प्रथम रचना, उसे फिर करेंगे, प्रतिज्ञा-बद्ध हैं हम, तहक़ीक़ हम करनेवाले हैं।" (सूरत अम्बिया, रकू ७)

मुसलमान इस सिद्धान्त से इन्कार कर बैठे, यह उनकी मनमानी है। इस मनमानी के बौद्धिक तथा व्यावहारिक जगत् में क्या दुष्परिणाम निकले, इसे मेरी रचना **'जवाहिरे-जावेद'** में देखने का कष्ट करें। संक्षेप में, अभाव से भाव-उत्पत्ति का दृष्टिकोण जहाँ दार्शनिक दृष्टिकोण से दूर है, वहाँ इससे कुछ नैतिक दुर्बलताओं का भी जन्म होता है। व्यक्ति की नैतिक रुचियों का सारा दायित्व रचयिता पर पड़ जाता है। कोई स्वभाव से बुरा उत्पन्न हुआ, तो जब वह अभाव से भाव में लाया गया है, तो उसे बुरा बनाने का दायित्व भी बनानेवाले पर ही आता है। ईश्वर ने अपनी इच्छा से उसे ऐसा बना दिया, अतः इसमें उसका क्या दोष ? इसके अतिरिक्त हम संसार में बौद्धिक तथा आर्थिक विषमता पाते हैं। किसी को असीम सुख प्राप्त है, किसी को सदा का दुःख; इसकी ज़िम्मेवारी भी व्यक्ति या समाज पर नहीं, रचयिता की इच्छा पर पड़ती है। इससे रचयिता के न्याय पर दोष आता है और क्षमा करना, वह पक्षपाती और अत्याचारी सिद्ध होता है।

मौलाना का तीसरा आक्षेप है—चारों वेदों में प्रकृति का द्योतक शब्द कौन-सा है, और किस मन्त्र में लिखा है कि वह अनादि है ?

ऊपर लिखे मन्त्रों में शब्द 'अम्भम्' और 'सलिलम्' इसी अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं। मन्त्र तीन में 'यह सब' अप्रकेत था, 'यह सब' से अभिप्राय वर्तमान जगत् से है। इसका सर्वथा अभाव न कहकर, कहा है कि यह अतिसूक्ष्म तथा अप्रकेत था। सृष्टि-उत्पत्ति के समय जो वस्तु पूर्व ही विद्यमान थी, वह अनादि न हुई तो क्या हुई ? इसके अतिरिक्त वैदिक परिभाषा में प्रकृति को 'सनत्नी' (अथर्व० १०-८-३०) और 'पुराणी', अर्थात् सनातन भी तो कहा गया है ! यजुर्वेद में आया है "अजारे पिशंगिला" (य० २३-५६) "अरे, सब रूपों को निगल जानेवाली प्रकृति अनादि है।" किस सौन्दर्य के साथ एक तथ्य को प्रस्तुत किया गया है कि प्रलयावस्था में सब रूपवान पदार्थ प्रकृति में लीन हो जाते हैं ! परन्तु स्वयं प्रकृति का अभाव नहीं होता, वह सबको निगल जाती है। मौलाना पूछते हैं "चारों वेदों में वह कौन-सा मन्त्र है, जिसमें प्रकृति तथा जीव के स्वरूप का वर्णन किया गया है ?" देखिये कितना स्पष्ट

कहा है—

"अपने कर्मों से उच्चावस्था तथा निम्नावस्था को जीव प्राप्त होता है। पकड़ा हुआ न मरनेवाला आत्मा, मरनेवाले शरीर से मिला हुआ है। ये दोनों (आत्मा तथा प्रकृति) सनातन, विभिन्न गुणोंवाले, विभिन्न रुचियाँ रखते हैं। एक को लोग जानते हैं, दूसरे को नहीं।" (ऋ० १-१५४-३५)

अपाङ् प्राङेति स्वधया गृभीतोऽमर्त्यो मर्त्येना सयोनिः। ता शश्वन्ता विषूचीना वियन्ता न्य१न्यं चिक्युर्न नि चिक्युरन्यम्॥

(ऋ० १-१६४-३८)।

श्री मौलाना साहब ने अपनी पुस्तक के पृष्ठ दो पर लेखों की शीर्षक-सूची समाप्त करते फ़रमाया है—"आरम्भ में वेदों के स्वर्ग का मार्ग प्रशस्त करने के लिए कुछ आवश्यक विवादास्पद बातें भी आ गई हैं।"

ऊपर वर्णित चार आक्षेप तथा तत्सम्बन्धी आरम्भिक विवाद से वेदों के स्वर्ग का मार्ग कैसे प्रशस्त हुआ, यह हम जान नहीं पाये। आत्मा तथा प्रकृति का अनादित्व स्वयं अपने-आप में एक व्यापक विषय है। मौलाना की पुस्तक में जिस वैदिक स्वर्ग का प्रश्न उपस्थित किया गया है, उसमें अभाव से भावोत्पत्ति के विवाद का न कोई सम्बन्ध है, और न इस विवाद से उसके रूप में कोई अन्तर पड़ता है। मौलाना ने इस विषय को इसके पश्चात् भी कहीं नहीं लिया (जिससे वैदिक स्वर्ग से इस विषय का कुछ सम्बन्ध जान पड़ता (अनु) कि देखो वैदिक स्वर्ग में रहनेवाली आत्माएँ अथवा प्रकृति अभाव से भाव (अस्तित्व) में आ गए हैं! सम्भव है यह मौलाना का अवान्तर विषय हो, परन्तु किसी अन्य साहित्यकार अथवा लेखक ने अवान्तर विषय से अपनी पुस्तक का आरम्भ कभी नहीं किया; शायद यह मौलाना की अपनी शैली है!

*

ईश्वर का संकल्प

"दो शरीरों में एक जीवन-शक्ति, परमेश्वर का यज्ञ"

मौलाना को आक्षेप तो तीसरे मन्त्र पर है, जो उक्त सूक्त में चौथे नम्बर पर आया है। मन्त्रार्थ इस प्रकार है: **"सर्वप्रथम (काम) इरादा हुआ, यह ज्ञान का आरम्भिक बीज था। मनीषियों ने चिन्तन तथा मनन से मानसिक एकाग्रता द्वारा अभाव से भाव का सम्बन्ध ज्ञात किया।"** इस मन्त्र के साथ-साथ आपने अथर्ववेद के कुछ मन्त्रों को भी अपने आक्षेप का आधार बनाया है। उन मन्त्रों का अनुवाद यह है—

> **"संकल्प (कामना)—इरादा सर्वप्रथम उत्पन्न हुआ, न उसे मनीषियों ने जाना, न बड़ों ने, न साधारण मनुष्यों ने, अतः ओ ईश्वरीय संकल्प ! तू सबसे बड़ा है, मैं तुझे नमस्कार करता हूँ।"**[1]

यह दूसरे शब्दों में ऋग्वेद के उपर्युक्त मन्त्र को दोबारा कहा गया है।

> **"ओ ईश्वरीय संकल्प ! जो मेरी विरोधी भावनाएँ हैं, उनका विनाश कर, उनको गहरे अँधेरे में गिरा, वे मेरे अंग-प्रत्यंग से सर्वथा दूर हो जाएँ, सुख-रहित हो जाएँ, एक क्षण भी जीवित न रहें।"**[2]

इन मन्त्रों के अर्थ की स्पष्टता के लिए इसी सूक्त के एक और मन्त्र पर भी दृष्टि डालना आवश्यक है। यद्यपि मौलाना ने इसे अपने आक्षेप का आधार नहीं बनाया, तो भी हम उपर्युक्त मन्त्रों के साथ इस मन्त्र को सम्मिलित करने की पाठकों से आज्ञा चाहते हैं। मन्त्रार्थ इस प्रकार है—

---

१. कामो जज्ञे प्रथमो नैनं देवा आपुः पितरो न मर्त्याः।
ततस्त्वमसि ज्यायान् विश्वहा महांस्तस्मै ते काम नम इत्कृणोमि।

(अ० ९-२-१९)

२. जहि त्वं काम मम ये सपत्ना अन्धा तमांस्यव पादयैनान्।
निरिन्द्रिया अरसाः सन्तु सर्वे मा ते जीविषुः कतमच्चनाहः॥

(अ० ९-२-१०)

"ऐ ईश्वरीय संकल्प! जो तेरा पवित्र सुखप्रद रूप है, जिससे जो बात तेरे सम्मुख होती है, वह सर्वथा सत्य होती है, और सत्य होकर रहती है, उन रूपों से हमें हर ओर से भर दे, पाप के विचारों को कहीं दूर डाल!"[1]

मौलाना के आक्षेप का मूल कारण-शब्द 'काम' है जो सब मन्त्रों में प्रयुक्त हुआ है। इस शब्द का अर्थ स्वयं मौलाना ने प्रथम पृष्ठ पर 'इच्छा', पृष्ठ दो पर संकल्प और उसके पश्चात् 'इच्छा' किया है। फिर न जाने उन्हें क्या सूझी कि ब्रेकेट में 'इच्छा' शब्द के साथ उन्होंने कामवासना (शहवत) भी लिख दिया। काश! मौलाना कम-से-कम मन्त्रों के विषय पर ही दृष्टिपात कर लेते। इतने पवित्र विषय में 'कामवासना' अर्थ का प्रयोग कहाँ तक उपयुक्त है? दसवें मन्त्र में तो मौलाना को व्यर्थ में ही 'पौरुष से हीन, हिजड़े, नपुंसकों' का वर्णन प्रतीत हुआ है। शब्द है **'निरिन्द्रिय'** जिसका अर्थ है 'इन्द्रियों से, उनके विषयों से दूर रहनेवाला'—'इन्द्रियेभ्यो निर्गताः'। फिर लिखा है, **अरसा,** अर्थात् रस से दूर। यहाँ वासनाएँ शत्रु के रूप में भी वर्णन की गई हैं। उर्दू कवि ज़ौक़ ने भी तो लिखा है **'बड़े मूज़ी को मारा, नफ़्से-अम्मारा को गर मारा'** (यहाँ वासना को दुष्टशत्रु कहा है)। इसी प्रकार भर्तृहरि भी इन्हें शत्रु-रूप में गिनते हैं—**'क्रोधश्चेत् किमरिभिः'**—क्रोध है तो दूसरे शत्रुओं की क्या आवश्यकता? इस विषय की व्याख्या ऊपर के मन्त्र २५ में की गई है। यहाँ कामवासना को इन्द्रियों से दूर रखने की प्रार्थना है और वह भी अपने इस निश्चय द्वारा।

क्या सुन्दर तथा प्यारा विषय है! निश्चय को शक्तिशाली तथा महत्त्वपूर्ण इसलिए स्वीकार किया गया है कि वह ईश्वरीय शक्ति के रूप में संसार की उत्पत्ति का कारण बनता है। यह शक्ति दयापूर्ण शक्ति है; सच्चरित्र व्यक्ति इसे अपने भीतर पाता है, उसे जगाता है, दया की दुहाई देता है, और उसके सहारे पाप के विचार तक से दूर रहने का प्रयास करता है। परन्तु मौलाना हैं कि एक दैवी शक्ति को आसुरी रूप देने पर तुले हुए हैं! फ़रमाते हैं—

---

१. यास्ते शिवास्तन्वः काम भद्रा याभिः सत्यं भवति यद्वृणीषे।
ताभिष्ट्वमस्माँ अभिसंविशस्वान्यत्र पापीरप वेशया धियः॥ (अ० ९-२-२५)

प्रश्न ५—वह इच्छा जो ईश्वर के हृदय में सर्वप्रथम उत्पन्न हुई… जिसे वेद काम, अर्थात् कामवासना का नाम देता है, उसका मूल कारण क्या है ? और वह किस वेदमन्त्र में वर्णित है ?

—हम क्या निवेदन करें ? वेद में तो शब्द 'काम' इच्छा के अर्थ में है, शेष मौलाना की अपनी कल्पना-शक्ति का चमत्कार है। यही मूल कारण है, और यह मौलाना की पुस्तक में वर्णित है।

प्रश्न ६—ईश्वर की इस (काम) वासना में क्या रहस्य निहित थे जिन्हें न तो देवताओं ने समझा, न मनुष्यों ने, और जिन्हें न ईश्वर जी स्वयं समझ सके, क्योंकि ईश्वर जी स्वयं देवताओं में ही सम्मिलित हैं और आर्यसमाज के सिद्धान्तानुसार चौतीसवाँ देवता हैं।

—मौलाना को भ्रम इस कारण हो गया है कि स्त्रीपुरुष के सम्भोग के विचार को भी 'काम' कहा जाता है, उसे कामदेव भी कहते हैं। संस्कृत में 'देव' के अर्थ हैं दयालु। यदि स्त्री-पुरुष के सम्भोग की भावना भी दैवी हो, अर्थात् उसका अभिप्राय चरित्रवान् सन्तान की उत्पत्ति हो तो उसे कामदेव कहेंगे, नहीं तो वह कामासुर होगा, जिसे मौलाना शहवत कह रहे हैं। ईसाइयत में एक युग वह भी बीता है, जब स्त्री-पुरुष के इस सम्बन्ध को, चाहे उसका लक्ष्य कुछ हो, पाप गिना जाता था। इसी से संसार से विरक्ति, विवाह न करने का विचार पनपा; परन्तु इस्लाम तो इस विरक्ति का विरोधी है। हज़रत मुहम्मद उस व्यक्ति को अपना शिष्य ही नहीं मानते, जो विवाह न करे, अर्थात् विवाह करना इस्लाम के सिद्धान्त में आवश्यक कर्त्तव्य है। क्या इस धार्मिक कर्त्तव्य का मूल शहवानी, अथवा मौलाना की भाषा में पाशविक वासना की पूर्ति ही है ? इसी के कारण तो सामाजिक भव्य भवन खड़ा है। नेक सन्तान उत्पन्न करने का विचार एक अत्यन्त पवित्र विचार है, दैवी विचार है, एक नये मनुष्य को संसार में लाने का विचार है; इसी संकल्प से ही तो मनुष्य सचमुच रचयिता बनता है ! यही वह संकल्प है, जो विश्व के रचयिता ने सृष्टि-उत्पत्ति के समय किया। हाँ, मनुष्य की शक्ति तथा साधन सीमित हैं; सृष्टि-रचयिता की शक्ति तथा साधन उससे सर्वथा भिन्न हैं; अल्पज्ञ जीव के संकल्प में त्रुटियाँ रहती हैं, सर्वज्ञ का ज्ञान सर्वथा पूर्ण होता है। दोनों में कोई समता नहीं, तो यह अल्पज्ञ तथा सर्वज्ञ का ज्ञान ही कहलाता है। यही

अवस्था दोनों के काम की है। परमेश्वर का संकल्प, क्रिया, त्रुटिरहित, पवित्र तथा शुभ होता है; मनुष्य के संकल्प तथा विचारों से त्रुटि का होना सम्भव है; बुराई का होना भी असम्भव नहीं, परन्तु दोनों (ईश्वर तथा जीव) के संकल्प हैं तो संकल्प ही! सन्तानोत्पत्ति का विचार इस्लाम में धार्मिक कर्त्तव्य माना गया है; वह संकल्प भी संकल्पों में सम्मिलित है। सन्तानोत्पत्ति की इच्छा की यह व्याख्या हमने मौलाना के व्यर्थ आडम्बर से विवश होकर की है, नहीं तो इन मन्त्रों में इसका न तो उपयोग है, और न स्थान। मौलाना ने परमेश्वर को देवताओं में आर्यसमाज के सम्मिलित करने पर सांकेतिक व्यंग्य किया है कि क्या उसे भी अपने इस इरादे का ज्ञान था या नहीं? मौलाना! वेद में जो 'देवता' शब्द आया है उसमें ईश्वर सम्मिलित नहीं। जैसे सृष्टि-रचयिता कहने से रचयिता को सृष्टि से भिन्न समझा जाता है, और सृष्टि से अभिप्राय यही भौतिक जगत् लिया जाता है, परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि परमेश्वर सृष्टि में नहीं है। यहाँ देवता से अभिप्राय मनीषी योगी से है, परमेश्वर से नहीं, अतः देवता भी उसे नहीं जानते, परन्तु परमेश्वर जानता है।

वेद से निवृत्त होकर मौलाना उपनिषदों की ओर बढ़े हैं। बृहदारण्यक में कथा आती है—**"पहले आत्मा था……उसका मन न लगता था, इसलिए अकेले का मन नहीं लगता। उसने दूसरे की इच्छा की। वह ऐसा था जैसे स्त्री-पुरुष मिले हुए हों। उसने स्वयं को दो भागों में विभक्त किया; उससे पति और पत्नी बने।"** (बृहदारण्यक १-४-१-३)[1] इस कथा में अत्यन्त रोचक रूप से पति-पत्नी के दो शरीर तथा एक आत्मा होने का रहस्य व्यक्त किया है। कहा जाता है जीवन तो एक ही है, आरम्भ में एक था, इसके दो भाग किये गये हैं जो दो शरीरों में विद्यमान हैं। स्वयं क़ुर्आन कहता है—

"जिसने उत्पन्न किया तुमको एक जीवन से और उत्पन्न किया उससे उसकी पत्नी को, और उनसे कई पुरुष तथा स्त्रियों का विस्तार किया (सूरत नसा, रकू)।" बृहदारण्यक उपनिषद् की ऊपर लिखी कथा तथा

---

१. आत्मैवेदमग्र आसीत्…… स वै नैव रेमे, तस्मादेकाकी न रमते, स द्वितीयमैच्छत्, स हैतावानास यथा स्त्री-पुमांसौ संपरिष्वक्तौ, स इममेवात्मानं द्वेधाऽपातयत् ततः पतिश्च पत्नी चाभवताम्। (बृ० १-४-१,३)

यजुर्वेद के एक मन्त्र को मौलाना ने एक ही स्थान पर आक्षेप का आधार बनाया है, अतः उस वेद-मन्त्र की व्याख्या भी हम यहाँ किये देते हैं—
"श्री और लक्ष्मी, (अर्थात् इहलोक तथा परलोक का अलभ्य पदार्थ) (अथवा शारीरिक तथा आत्मिक वैभव) उसकी पत्नियाँ हैं।" (यजु० ३१)

संस्कृत तो क्या, किसी भी भाषा का थोड़ा-सा ज्ञान रखनेवाले लोग भी यह जानते हैं कि इस आलंकारिक वर्णन का क्या अभिप्राय है। क्या उर्दू भाषा में श्री परमेश्वर को इहलोक तथा परलोक का स्वामी (ख़ावन्द व्यक्ति) नहीं कहा जाता ? क्या सारा जगत् ईश्वर को अपना स्वामी नहीं मानता ? पत्नी का स्वामी उसका पति होता है। संस्कृत-व्याकरण में पत्नी का अर्थ है—"जिस स्त्री के साथ मिलकर यज्ञ किया जाये।"

स्त्री-पुरुष के दो प्रकार के सम्बन्धों की संक्षिप्त व्याख्या हम ऊपर कर चुके हैं। यदि पाठक इस अन्तर को एक बार पुनः ध्यानाग्र कर लें, तो उन्हें 'पत्नी' शब्द के समझने में सुविधा होगी। वासना-पूर्ति विवाह का लक्ष्य नहीं; जिस स्त्री से यह सम्बन्ध हो, उसे 'रखैल' कहा जाता है; परन्तु पत्नी उसे कहते हैं जिसके साथ मिलकर पति यज्ञ करता है। 'यज्ञ' हर एक धार्मिक कृत्य का नाम है, विशेष रूप से उन धार्मिक कर्त्तव्यों का, जिनका सम्बन्ध गृहस्थाश्रम से होता है, यथा ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ, संन्यासी, इन सबकी सेवा-शुश्रूषा गृहस्थ का धर्म है। यह एक यज्ञ है। विद्वानों तथा बड़ों की देखभाल, हवन, बच्चों के संस्कार, यह सब कर्म-यज्ञ है। कोई गृहस्थ इन कर्त्तव्यों को अकेला नहीं कर सकता; इनमें पत्नी का होना आवश्यक है, और व्याकरण के अनुसार पत्नी उस स्त्री का नाम है जो इन कर्त्तव्यों की पूर्ति में सहायक हो। आलंकारिक वर्णन में, दोनों लोकों के सुख तथा आनन्द के संसार को अथवा शारीरिक तथा आत्मिक आनन्द के जगत् को परमेश्वर की गृहस्थी कहा गया है। परमेश्वर का यज्ञ इन सुखों को सम्मिलित किये बिना पूरा नहीं होता। हम सब परमेश्वर के पुत्र हैं। परमेश्वर हमारा दयालु पिता है, और इहलोक तथा परलोक का वैभव (श्री और लक्ष्मी) हमारी माता है। कितनी पवित्र कल्पना है ! मौलाना लिखते हैं—

प्रश्न ७—सम्भोग की वह वासना, जिसे वेद 'काम' कहता है, उप-

निषद् उसको दया कहते हैं। दोनों शब्दों के अर्थ उस वासना में हैं, जो स्त्री-पुरुष के सम्भोग की है। (निरुक्त अ० १२२, सं० १३) इसपर मज़ा यह कि ईश्वर जी की इस वासना-पूर्ति का साधन वेदों में उसकी दो पत्नियाँ श्री और लक्ष्मी (यजु० ३१-२२) भी विद्यमान हैं। और सबसे विचित्र बात तो यह है कि ईश्वर जी के स्त्री-सम्भोग से कुल जानदारों के जोड़े पैदा होने का वर्णन बृहदारण्यका (बृहदारण्यक; मौलाना ने अशुद्ध ही लिखा है) और दूसरे प्रामाणिक उपनिषदों में पाया जाता है। तो स्वामी जी के इस व्यर्थ आरोप को आर्यसमाज पर क्यों न लगा दिया जावे (जो उन्होंने इस्लाम पर लगाया) कि इनका खुदा स्त्रियों में मस्त रहता है ?

—हमने ऊपर बृहदारण्यक तथा यजुर्वेद दोनों के प्रमाण देकर उनकी व्याख्या कर दी है। बृहदारण्यक में स्त्री-पुरुष के दो शरीर तथा एक आत्मा का सुन्दर रूप से वर्णन आता है, और बताया है कि उनके इस सम्बन्ध से सब जानदारों के जोड़े उत्पन्न हुए। यही वास्तविकता कुछ परिवर्तन के साथ क़ुर्आन में कही गई है। क़ुर्आन में एक ही नफ़स, अर्थात् जीवन (आत्मा) से स्त्री-पुरुषों की उत्पत्ति का स्पष्ट वर्णन है। आत्मा अकेला रहते हुए उपनिषद् के आलंकारिक वर्णन के अनुसार प्रसन्न न था। मौलाना का अनुवाद भी यही है (पृष्ठ ११६)। संस्कृत भाषा में रम् धातु के अर्थ हैं प्रसन्न होना। बच्चों की क्रीड़ा को भी 'रमन' करना कहते हैं, अपितु इसीलिए पत्नी से अन्तर स्पष्ट करने के लिए रखैल को रामा कहा जाता है, परन्तु रमन का अर्थ सम्भोग-वासना करना मौलाना की अपनी मनमानी है जिसका भार उपनिषद् की पवित्र भाषा न उठा सकेगी। उपनिषद् में 'नैव रेमे' का अर्थ है 'प्रसन्न नहीं था'। मौलाना ने भी स्वयं लिखा है—'उसका मन न लगता था। वह (आत्मा) उदास था।' फिर यजुर्वेद में तो श्री तथा लक्ष्मी को रामा नहीं, पत्नी कहा है ! परन्तु मौलाना ने इस स्पष्ट वर्णन का भी ध्यान नहीं रखा। जैसा हम ऊपर लिख चुके हैं कि पत्नी शब्द के व्याकरणानुसार अर्थों से भी रखैल से उसका अन्तर स्पष्ट है। मौलाना ने प्रथम तो वेद का शब्द 'काम' लेकर कामाचार से अपने अर्थ ऊपर लगा दिये, पुनः राम जो एक निर्दोष शब्द है, उसे रमा बना दिया, जिसके संस्कृत में कुछ अर्थ ही नहीं। फिर रमा और पत्नी के अन्तर को

हो आप भूल गये, और इस प्रकार एक सुन्दर आलंकारिक वर्णन पर एक विचित्र रंग चढ़ गया, क्या इससे कोई इस्लाम की सेवा हुई ?

वेद और उपनिषद् तो इस प्रकार के दोषों से सर्वथा रहित हैं, परन्तु यदि इस प्रकार की काल्पनिक तथा अशुद्ध व्याख्या से स्वयं इस्लाम का अपमान हो, तो कोई क्या करे ?

रही ऋषि दयानन्द के इस्लाम पर किये आक्षेप की बात, उसका उत्तर किसी अगले अध्याय में दिया जावेगा जो क़ुर्आन के बहिश्त से सम्बन्धित होगा। क़ुर्आन की हूरें (अप्सराएँ) क्या हैं ? इसे क़ुर्आन् के ही शब्दों में कहा जावेगा। कठिनाई यह है कि वे (हूरें) इस समय भी विद्यमान हैं, तभी तो ग़ालिब (उर्दू कवि) ने कहा है—

जिसमें लाखों बरस की हूरें हों, ऐसी जन्नत को क्या करे कोई ?

प्रलयकाल से पूर्व तक वे (बेचारी) वहाँ बैठी हैं। किस शुभ कार्य के फलस्वरूप ? यह एक प्रश्न है जिसका उत्तर मौलाना को देना चाहिये था, परन्तु मौलाना तो दूसरी ओर चल पड़े।

मौलाना के प्रश्न का उत्तर तो हमने ऊपर निवेदन कर दिया, परन्तु पुस्तक के अन्त में मौलाना की दयालु दृष्टि एक और शब्द में उलझी है, वह शब्द है **'राग'**। मौलाना लिखते हैं—"स्वयं स्वामी दयानन्द जी ने सत्यार्थप्रकाश के नवम समुल्लास में वाक्य सं० १७ में, मुक्ति-काल में, आत्मा में **राग** (काम-वासना) का होना स्वीकार किया है। यद्यपि उर्दू-अनुवाद में इसका अर्थ मुहब्बत (प्रेम) कर दिया है, परन्तु इसी समुल्लास के वाक्य सं० २७ में, राग को क्लेश मानकर त्यागने की बात कही है (पृष्ठ १२०)।"

—संस्कृत में राग का अर्थ रुचि है। परन्तु मौलाना हैं कि उन्हें प्रत्येक शब्द में एक ही अर्थ सूझता है। रुचि (राग) आत्मा का स्वाभाविक गुण है (इच्छा-द्वेष-प्रयत्न-सुख-दुःख—न्यायदर्शन); इस शक्ति का अच्छा या बुरा होना, इसके अच्छे या बुरे प्रयोग पर निर्भर है। योगदर्शन में मन की एकाग्रता के सम्बन्ध में कहा है कि योगी राग तथा द्वेष से छुटकारा पावे, अर्थात् घृणा तथा मोह से बचे। सुख की लालसा न रखे तथा दुःखों से व्याकुल न हो। सुख में अहंकार न करे तथा दुःख से घबराये नहीं। यह अहंकार तथा विह्वलता योग-मार्ग में बाधक हैं। व्यर्थ के मोह, अथवा अनुचित घृणा के त्याग की प्रेरणा दी गई है। इससे

अभीष्ट यह है कि मनुष्य का मन व्यर्थ की भावनाओं के बहाव से बचकर एकाग्र हो सके। इस प्रकार के अभ्यास का यह अभिप्राय सर्वथा नहीं कि मनुष्य राग की शक्ति को ही खो दे। वह तो खोई जा ही नहीं सकती। मोक्षावस्था में भी वह साथ रहती है, परन्तु तब उसका प्रयोग ईश्वर के भजन अथवा अन्य पवित्र कार्यों में होता है।

चतुष्पाद्

१. अनन्त शिर, अनन्त नेत्र तथा अनन्त पगों की शक्तिवाला परमेश्वर है। वह जगत् में सर्वत्र व्यापक है, और इस विश्व को घेरे हुए है। वह दस दिशाओं के संसार से अतिरिक्त भी है।[1]

२. यह सब परमेश्वर का प्रकाश है, जो वर्तमान है, जो हो चुका है अथवा जो होगा। वह इस अमृतमय विश्व (मोक्ष) का स्वामी है जो इन्द्रिय-जगत् से उच्च तथा पवित्र है।[2]

३. यह (विश्व) उसकी महिमा है; वह परमेश्वर इससे भी महान् है। सारा संसार उसके महत्त्व का एक भाग है। तीन और भाग अमृतमय प्रकाश-लोक का अमृत हैं।[3]

४. परमेश्वर के ये तीन पाद (भाग) अत्यन्त महान् हैं। एक पाद यहाँ पर पुनः-पुनः प्रकट होता है। इससे सब ओर खाने व न खानेवाली वस्तुएँ फैल गईं (यजु० ३१)। खानेवाले चेतन तथा न खानेवाले जड़, इन दोनों के प्रति सर्वत्र प्राप्त होता हुआ विशेषकर व्याप्त होता है।[4] (ऋषि दयानन्द)

प्रश्न ८—वह विचित्र पुरुष (ईश्वर) जिसका वर्णन पृष्ठ ४ पर हमने वेदों से किया है, उसका एक-चौथाई भाग किस प्रकार नश्वर संसार के रूप में आ पाया ? और क्या असीम सत्ता का १/४ भाग तथा

---

१. सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्। स भूमिँ सर्वत स्पृत्वात्यतिष्ठद्-दशांगुलम् ॥ (यजु० ३१-१)

२. एतावानस्य महिमातो ज्यायांश्च पूरुषः। पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि। (यजु० ३१-३)

३. पुरुषऽ एवेदँ सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्। उतामृतत्वस्येशानो यदन्ने-नातिरोहति॥ (यजु० ३१-२)

४. त्रिपादूर्ध्वं उदैत्पुरुषः पादोऽस्येहाभवत्पुनः। ततो विश्वङ् व्युक्रामत्साशना-नशनेऽअभि (यजु० ३१-४)

१/३ भाग मानना बुद्धिपूर्वक है ? यदि है तो तर्क से सिद्ध किया जाये।
—मौलाना येन-केन-प्रकारेण किसी असीम सत्ता के चार भाग करने पर तुले हों, तो असीम की क्या शक्ति कि भागों में विभक्त न हो ? नहीं तो वेद में तो कहीं इन भागों की चर्चा नहीं। माण्डूक्योपनिषद् में ओ३म् को चतुष्पाद कहा है। इसका पहला पाद (अभिव्यक्ति) वह है जो इन्द्रियों द्वारा जाना जाता है, यथा जाग्रतावस्था में; यह परमेश्वर की प्रथम अभिव्यक्ति है। दूसरा पाद अथवा अभिव्यक्ति वह है जो कल्पना तथा विचार का विषय है, यथा स्वप्नावस्था में (देखते हैं)। तीसरा पाद समाधि की अवस्था में माना जाता है। इन तीनों प्रकारों की ईश्वर की अभिव्यक्ति से भी ईश्वर का पूर्ण ज्ञान प्राप्त नहीं होता। चौथा पाद मनुष्य की सामर्थ्य से दूर है। पहले के तीन प्रकारों से ईश्वर के सौन्दर्य तथा महिमा को जानकर योगी बरबस चिल्ला उठता है कि अभी वह नहीं जाना गया। इस तथ्य को वेद ने इस प्रकार उद्घाटित किया कि परमेश्वर की महत्ता की एक अभिव्यक्ति भौतिक जगत् में होती है, शेष तीन, कल्पना तथा समाधि का विषय हैं, समझ में आते भी हैं और नहीं भी आते। इस कथन में असीम सत्ता के १/४ तथा १/३ भाग में वह विभक्ति कैसे हो गई ? उपनिषद् ने तो उसे अमात्र तथा अपाद कहा है, जिसका अर्थ है वह न मापा जा सकता है और न पूर्णरूप से ज्ञान में आ सकता है।

'विराट् पुरुष'

यजुर्वेद के इसी अध्याय में आगे चलकर विराट् पुरुष का ध्यान बताया गया है। विराट् का अर्थ है नाना रूपों में प्रकाशित, अर्थात् हमारे सम्मुख जो यह भौतिक जगत् है इसमें प्रकाशमान पुरुष को विराट् पुरुष कहते हैं। वेद कहता है—

"तब विराट् उत्पन्न हुआ, विराट् से पुरुष बड़ा है और अपने अस्तित्व में इससे जुदा है। वह प्रकट होकर भौतिक जगत् को आगे-पीछे घेर लेता है (आच्छादित कर देता है)।"[1]

---

१. ततो विराडजायत विराजो ऽ अधि पूरुषः। स जातो ऽ अत्यरिच्यत् पश्चाद् भूमिमथो पुरः॥ (यजुः० ३१-५)

"इस सम्मुख प्रकट हुए पूज्य (विराट्) पुरुष को अपने हृदय के आसन पर बिठाया। इस प्रकार योगियों, तपस्वियों तथा ऋषियों ने उसका पूजन किया।"[1]

"जिस (विराट्) पुरुष को इस प्रकार (हृदयासन पर) बिठाया, उसका ध्यान किस प्रकार किया ?"[2]

विराट्पुरुष के ध्यान से अभिप्राय है, इस भौतिक जगत् की अनेकता में एकता के दर्शन। फ़ारसी के प्रसिद्ध कवि श्री सादी ने लिखा है—"बनी आदम आज़ारा यक दीगर अन्द" अर्थात् मनुष्य संसार में एक-दूसरे का अंग है। यह इसी अनुभूति पर आधारित है। जैसे एक शरीर के अंग भिन्न-भिन्न होते हुए भी मस्तिष्क, बाहु, उदर, पाँव, सुख-दुःख की अनुभूति में एक हैं, यही अवस्था समस्त मानव-समाज की है। व्यक्ति जुदा रहे, परन्तु सब एक ही समाज के अंग हैं, यह विचार दसवें मन्त्र में किया गया है। इससे ऊँची और व्यापक कल्पना यह है कि समस्त संसार को एक शरीर माना जावे, जो हमारे सम्मुख है, और इस विश्व की आत्मा परमेश्वर के उस महत्त्वपूर्ण प्रकाश को माना जावे जो इस विश्व में विद्यमान है, यही विराट् पुरुष का पूजन है। कहा है—

"नाभि से मध्य-भाग की कल्पना की, मस्तिष्क से प्रकाश-लोक की (द्युलोक), पाँव से धरती की, श्रोत्रों से दिशाओं की, इसी प्रकार दूसरे लोकों की कल्पना की गई।"[3]

(यजुः० ३१-१३)

यह है विराट् पुरुष का स्वरूप और उसके ध्यान का प्रकार! योगियों में यही प्रचलित रहा है। जैसे मानव-शरीर में ऊपर का भाग सारे शरीर का पथ-प्रदर्शन करता है, इसी प्रकार विश्व में सूर्य-चन्द्र आदि नक्षत्र ऊपर का भाग प्रतीत होते हैं। यह भाग जैसे विश्व का

---

१. तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन् पुरुषं जातमग्रतः। तेन देवा ऽअयजन्त साध्या ऽ ऋषयश्च ये ॥ (यजुः० ३१-९)

२. यत्पुरुषं व्यदधुः⋯व्यकल्पयन्। (यजुः० ३१-१०)

३. नाभ्याऽआसीदन्तरिक्षꣳ शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत। पद्भ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रात्तथा लोकाँ अकल्पयन् ॥ (यजुः० ३१/१३)

मस्तिष्क है, इसी प्रकार शेष भाग है। सारे विश्व में परमेश्वर को प्रत्यक्ष समझना इस प्रकार के ध्यान का लक्ष्य है। इस प्रकार की तपस्या का परिणाम क्या होता है ? कहा है—

"मैं उस प्रकाशस्वरूप, प्रकाश के पुंज, विश्वात्मा को जानता हूँ, जो अन्धकार से परे है। उसी को जानकर मनुष्य मृत्यु से छुटकारा पा सकता है। साधक के लिए अन्य कोई मार्ग नहीं है।"[1]
(यजु:० ३१-१८)

मौलाना लिखते हैं—

प्रश्न ९—क्या सचमुच उस ईश्वर के १/४ भाग से, जिसे उपनिषद् शब्दब्रह्म कहते हैं, संसार बना ? परन्तु वेद में तो लिखा है कि उसके शिर से द्युलोक, नाभि से मध्य-भाग (आकाश), पाँव से यह धरती उत्पन्न हुई। तो क्या ईश्वर, उसका शिर, नाभि, पाँव १/४ भाग में आ गये हैं अथवा कुछ ३/४ भाग में भी हैं ? यदि शिर-नाभि-पाँव १/४ भाग में ही आ जाते हैं तो शेष ३/४ भाग में कौन-से अंग हैं जो नष्ट नहीं होते ?

प्रश्न १०—वेद की इस सृष्टि-उत्पत्ति की फ़िलॉसफ़ी से ज्ञात होता है कि वेदों के विज्ञान में यह धरती परमेश्वर के पाँव, आकाश नाभि, और द्युलोक उसका शिर है, तो इस धरती के ऊपर की ओर ही संसार होगा ? धरती के दूसरी ओर (नीचे की दिशा में) कुछ न होगा, अथवा उस जगत् का कोई और ईश्वर होगा ? यदि वैदिक विज्ञान में धरती की दूसरी ओर भी कोई संसार होता, तो उस धरती को पाँव न माना जाता, अपितु इसको मध्य में तथा गोल होने के कारण ईश्वर जी की नाभि माना जाता।

ये दोनों प्रश्न अपना उत्तर स्वयं आप हैं। प्रथम तो मौलाना लिखते हैं—"उसके शिर से द्युलोक, उसकी नाभि से अन्तरिक्ष तथा उसके पाँवों से यह धरती उत्पन्न हुई।" फिर फ़रमाते हैं—"यह धरती चूँकि उसका पाँव, आकाश नाभि (अन्तरिक्ष नाभि) और द्युलोक शिर है। चार पंक्तियों के अन्तर में ही मौलाना को ध्यान नहीं रहा कि वे

---

१. वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्। तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥ (यजु:० ३१-१८)

पहले क्या लिख चुके हैं ? आकाश, धरती तथा द्युलोक ईश्वर के विभिन्न अंग हैं अथवा अंगों से उत्पन्न हुए हैं ? यदि प्रथम दृष्टिकोण ठीक है, तो दूसरे प्रश्न का कोई अर्थ ही नहीं; यदि अन्तिम अवस्था स्वीकार है तो पहला प्रश्न व्यर्थ किया गया है; और वास्तविकता यह है कि दोनों दृष्टिकोण अनुपयुक्त हैं। ध्यानी पुरुष अनेकता में एकता के दर्शन कर रहा है। वह धरती के किसी भाग में स्थित हो, उसके सम्मुख यह समूचा विश्व है। उसे वह एक शरीर की कल्पना से विभूषित करता है, जिसका आधार ईश्वरीय शक्ति है। भला इसमें विज्ञान से विरोध कैसा ? और दो ईश्वरों से क्या अभिप्राय ? सौर जगत् में अथवा विश्व में, धरती विश्वविज्ञान से किस रूप में है ? कहीं क़ुर्आन और हदीस में यह तथ्य कहा हो, ऐसा हमारे ध्यान में तो नहीं है (जिससे मौलाना को वेद के कथन पर आक्षेप का कारण बनता)। खैर, मौलाना ने वेद पर आक्षेप करना था, उन्होंने कर दिया, परन्तु आक्षेप के उपयुक्त होने का कोई कारण भी तो होता ?

यज्ञ

कटोरे, हँडिया, खूँटे तथा सोने-चाँदी का अण्डा

मौलाना को यह प्रमाणित करना अभीष्ट है कि वेद में तीन लोकों का वर्णन किया गया है—धरती, आकाश तथा द्युलोक का। इसके अनुमोदन में अपनी पुस्तक में पृष्ठ ४ पर यह मन्त्र उपस्थित किया है "जिसने प्रकाश को तीव्र बनाया, धरती को कड़ा तथा आनन्दलोक एवं मुक्तिलोक को स्थापित किया, जो आकाश में गति तथा गतिशील का मापनेवाला है, उस आनन्द के स्रोत की हम अत्यन्त स्वच्छ हृदय से अर्चना करें।

श्री मौलाना ने द्यौ का अनुवाद आकाश, अन्तरिक्ष का ख़ला तथा पृथिवी का अर्थ धरती किया है। पृथिवी सचमुच धरती का नाम है। द्यौ का अर्थ है प्रकाश अथवा प्रकाश-लोक; सूर्य तथा उसके चारों ओर के स्थान को वेद ने द्यौ कहा है। प्रकाश के समस्त पुंज (नक्षत्र) जो रात्रि अथवा दिन को अपने प्रकाश से जगमगाते हैं, द्यौ के भीतर गिने जाते हैं। इस स्थान को कोई आकाश कहे अथवा कोई अन्य नाम दे, द्यौ तथा पृथिवी के बीच का भाग अन्तरिक्ष कहलाता है। यह ध्यान रहे कि वेद में प्रयुक्त इन शब्दों का अर्थ केवल यही नहीं; व्युत्पत्ति से द्यौ का अर्थ प्रकाश है और प्रकाश भौतिक, बौद्धिक तथा आत्मिक कोई भी हो सकता है। इसे अथवा इसके स्थान को द्यौ कहा जावेगा। अन्तरिक्ष का अर्थ भीतर अथवा हृदय के भी हो सकते हैं। विशेष विद्याओं में इन विशिष्ट शब्दों के विशेष अर्थ हो सकते हैं। यहाँ इनकी व्याख्या का अवसर नहीं।

अपनी पुस्तक के पाँचवें पृष्ठ पर मौलाना ने कुछ वेद-मन्त्रों के अर्थ न देकर केवल प्रमाण दिये हैं कि इनमें पृथिवी तथा द्यौ के विभिन्न प्रकारों का वर्णन है, यथा ऋ० मन्त्र १, सूक्त ३४, मन्त्र ८ में भूमियों का वर्णन है। उपजाऊ होने अथवा उष्णता की भिन्नता के कारण धरती

कई प्रकार की होती है—उत्तम, मध्यम अथवा अधम। यथावसर इसकी व्याख्या भी की जा सकती है। पैदावार (प्रोडक्शन) के आधार पर यह विभाग निम्न प्रकार का होगा, उष्णता की भिन्नता से यह विभाजन और प्रकार का होगा। अथर्ववेद कांड १८, सूक्त २, मन्त्र ४८ में तीन द्यौ बताए गये हैं—एक 'उदन्वती' जिसका अर्थ है तरंगों वाली; प्रकाश की तरंगें तो प्रसिद्ध ही हैं; दूसरे द्यौ का नाम है 'पीलुमती', जिसका अर्थ है परमाणुओंवाली; युरोप के प्रसिद्ध वैज्ञानिक आइन्स्टीन ने पिछले दिनों सिद्ध किया है कि प्रकाश के परमाणु होते हैं; तीसरे द्यौ का नाम है 'प्रद्यौ' अर्थात् इन दोनों से सूक्ष्म प्रकाश का रूप। मौलाना ने इस मन्त्र का प्रमाण देते हुए अर्थ किया है ख़ला (अन्तरिक्ष)। न जाने किस विचार से यह अर्थ कर दिये, जबकि ख़ला तो उनके अपने विचार में अन्तरिक्ष का अर्थ था।

पाठक अब वेद में वर्णित द्यौ, पृथिवी तथा अन्तरिक्ष का अर्थ समझ गये होंगे। यह विराट् पुरुष के शरीर को किस प्रकार बनाते हैं, अथवा उनकी कल्पना एक ऐसे शरीर के अंगों से की जाती है जिसका शिर द्यौ, बीच का भाग अन्तरिक्ष, तथा नीचे का भाग पृथिवी है और जिसका जीवन परमेश्वर की शक्ति है; यही तथ्य यहाँ विचारणीय है। इन विभिन्न स्थानों पर विद्यमान सब वस्तुएँ एक-दूसरी से ऐसे जुड़ी हुई हैं, जैसे शरीर के विभिन्न अंगों में विद्यमान शरीर के विभिन्न तत्त्व।

वैदिक धर्म का एक दृष्टिकोण यज्ञ-सम्बन्धी है। यज्ञ का अर्थ है स्वार्थरहित, परोपकारके लिए किया गया कोई कार्य। यज्ञ का व्युत्पत्ति से अर्थ है वह कार्य, जिसमें देव-पूजा अर्थात् माननीय महात्माओं का सम्मान हो, संगतिकरण अर्थात् मेल-मिलाप तथा दान अर्थात् परोपकार का कार्य। इस यज्ञ का एक सीमित रूप हवन है। इसमें ईश्वर का पूजन, हवन-सम्बन्धी विभिन्न सामग्री का एकीकरण तथा स्वास्थ्य एवं सुगन्धि का वायु में विस्तार किया जाता है। इस छोटे-से कृत्य से यह सीखना होता है कि मनुष्य को अपना समस्त जीवन संसार में स्वास्थ्य तथा सुगन्धि (शुभ कर्मों को) फैलाने में लगाना चाहिये। वेद-मन्त्रों के बार-बार दोहराने से यह पाठ बार-बार दोहराया जाता है। स्वार्थ-भावना से दूरी तथा बलिदान की भावना की स्वीकृति, यज्ञ की आत्मा

है। अन्य सामग्री के साथ यज्ञ में भात भी डाला जाता है। दरिद्र-से-दरिद्र व्यक्ति भी सुविधापूर्वक इस सस्ती वस्तु का हवन कर सकता है। भात अत्यन्त हल्का भोजन है। आत्मिक शांति की साधना में रत व्यक्ति को यह भोजन अनुकूल रहता है। वेद में स्थान-स्थान पर यह दृष्टिकोण मनुष्य के सम्मुख उपस्थित किया गया है कि यह समस्त विश्व अपने-आपमें एक यज्ञ है। परमेश्वर, जो अथर्ववेद के अनुसार 'अकामो धीरः'—अकाम अर्थात् कामना-रहित है, वह संकल्प करता है, किसलिए ? यज्ञ करने के लिए, अपने पुत्रों के लाभ के लिए। उसका यज्ञ कहाँ होता है ? कहा है—"उसने द्यौ तथा पृथिवी को दो कटोरों के समान (यज्ञ में) मिला दिया है।" (ऋ० ३-५५-२०)

वेद ने 'चमु' शब्द का प्रयोग किया है जिसका अर्थ सेना भी हो सकता है। यदि यह अर्थ लिया जावे तो अभिप्राय होगा कि परमेश्वर ने विश्व के इन दोनों भागों में जैसे सेनाएँ चला रखी हैं, जैसे सेना पूरे अनुशासन में कूच करती चली जाती है, यही अवस्था परमेश्वर की सृष्टि की है। ऋषि दयानन्द ने मन्त्र का यही अर्थ किया है। चूँकि मौलाना आर्यसमाज को सम्बोधित कर रहे हैं, अतः उन्हें मन्त्रार्थ भी ऋषि दयानन्द का ही लेना चाहिए था, और आक्षेप का आधार भी उसे ही बनाना चाहिये था। परन्तु उन्होंने जो अनुवाद सायणाचार्य से लिया है, अशुद्ध वह भी नहीं। चमु नाम यज्ञ के कटोरे का भी है; इसमें यज्ञ का सामान रखा रहता है। वेद कहता है कि द्युलोक तथा पृथिवी-लोक, अथवा मौलाना के कथनानुसार धरती और आकाश, यज्ञ के दो कटोरे हैं। उनमें स्थित समस्त विश्व जैसे परमेश्वर के यज्ञ की सामग्री है जिसे सबके उपकार के लिए परमेश्वर ने एकत्रित कर दिया है। अथर्ववेद में कहा है—

> "यह धरती पकते हुए भात की हँडिया है और द्यौ अथवा आकाश, ढकना है।"[1] (अ० ११-३-११)

अभिप्राय यह है कि पृथिवी, अन्तरिक्ष तथा द्युलोक में जो भी सृष्टि है, वह यज्ञ का भात है। परमात्मा के भण्डारे की देग पक रही है।

---

१. इयमेव पृथिवी कुम्भी भवति राध्यमानस्यौदनस्य द्यौरपिधानम्।
(अथर्व० ११-३-११)

कितना सुन्दर वर्णन है! क्या हमें समस्त विश्व में यही कार्य होता दिखाई नहीं देता ? विज्ञान इस सत्य को स्वीकार करता है कि समस्त विश्व का अस्तित्व जीवन की उष्णता के कारण है। जहाँ यह उष्णता कम हुई कि संसार का विनाश हुआ। वह बात हँडिया की उपमा से पूरी स्पष्ट हो जाती है। इस हँडिया का सदा चूल्हे पर चढ़ा रहना केवल संयोगमात्र नहीं, न यह व्यर्थ का खेल है, अपितु इसका एक नैतिक लक्ष्य है—विश्व का उपकार, जो सदा पूर्ण अकाम परमेश्वर की महिमा है।[1] यज्ञ-मंडप में यूप, अर्थात् बड़े खूँटे गाड़े जाते हैं। अभिप्राय है कि मनुष्य के भीतर विद्यमान पशु-पापवृत्ति को खूँटे से बाँध दिया जावे। यज्ञ का एक अन्य अभिप्राय है—सभ्यता, नैतिकता एवं आध्यात्मिक भावनाओं का विकास। यज्ञ के इस अभिप्राय को न समझकर अज्ञानता के युग में पशु-बलि की परम्परा चल पड़ी। वस्तुतः पशु, मनुष्य की अपनी उच्छृङ्खल वृत्तियाँ हैं, उन्हें नैतिकता तथा सदाचार के खूँटे से बाँधा जाता है। वेद ने धरती को यज्ञ का मण्डप बताकर कहा है—

"सर्दी तथा गर्मी को स्थापित करके, पर्वतों को खूँटा बनाकर, वर्षा तथा चकमकाहट की अग्नियाँ प्रकाशलोक के ज्ञाता महान् परमेश्वर का यज्ञ कर रहे हैं।"[2]

(अथर्व० १३-१-४७)

पर्वत तपस्वियों के तपस्या-स्थल हैं। वहाँ पाप-वृत्तियों पर अधिकार पाया जाता है। इन्द्रियों पर अधिकार पाने के अभ्यास का एक स्थान पर्वत भी है। इसलिये उन्हें यज्ञ का खूँटा कहा गया है। धरती से ऊपर उठे हुए तो वे हैं ही। मौलाना ने यूप का अर्थ किया है 'सतून'। जाने किस कोश से उन्हें यह अर्थ मिला ? वहाँ वर्षा का होना तथा वायु में नमी का होना, यज्ञ की अग्नि का प्रदीप्त होना है। परमेश्वर जीव से कहता है—

"पूर्व दिशा में जो पहले से विद्यमान हूँ, तुझे अपने कर्मों में इस प्रकार स्थान देता हूँ, जैसे दिशाओं के बाहुओं में घिरी धरती

---

१. अकामो धीरो ...... न कुतश्चनोनः। (अथर्व० १०-८-४४)

२. हिमं घ्रंसं चाधाय यूपान् कृत्वा पर्वतान्। वर्षाज्यावग्नी ईजाते रोहितस्य स्वर्विदः॥ (अथर्व० १३-१-४७)

सूर्य की किरणों को अपने ऊपर स्थान देती है। इसी प्रकार दक्षिण, पश्चिम, उत्तर, नीचे तथा ऊपर की दिशा में तुझे अपने कर्मों में इस प्रकार स्थान देता हूँ।" (अथर्व० १८-३-३०-३५)[1]

कितनी सुन्दर उपमा है! वेद में दिशाओं को बाहु कहा गया है, इन बाहुओं में धरती पड़ी है, जिसमें सूर्य की उष्णता क्रीड़ा करती है, और नाना प्रकार के फल-फूल उत्पन्न करती है। यही अवस्था जीवन की अपने कर्मों की धरती पर है। मौलाना ने न जाने किस आधार पर इस मन्त्र का अर्थ किया है—"धरती ने अपने बाहुओं पर आकाश को उठाया हुआ है।" (पृष्ठ ६) यहाँ अर्थ मौलाना का मनमाना है। उन्होंने तो वाक्यों की बनावट, यहाँ तक कि व्याकरण के नियमों की भी अवहेलना कर डाली है। इससे पूर्व यूप का अर्थ 'सतून' किया। वह अथर्ववेद का १३वाँ काण्ड था, और यह १८वाँ काण्ड है, परन्तु मौलाना ने दोनों को एक बना दिया है। लिखते हैं—"इन्हीं पर्वतों को अलंकार में कहते हुए धरती के बाज़ू भी कहा गया है (पृष्ठ ६)।" प्रमाण दिया है अथर्ववेद के १८वें काण्ड में तीसरे सूक्त के ३५वें मन्त्र का। भला, इसमें कहीं पर्वतों का नाम भी आया है? फिर कहते हैं—"वेदों के अनुसार आकाश भी सतून के बिना नहीं रह सकते (पृष्ठ ७)।"

मौलाना! यहाँ तो सतूनों का वर्णन ही नहीं; पर्वत 'खूंटा' है, परन्तु उससे आकाश को थामने की बात कहाँ कही गई है? बाज़ू दिशाएँ हैं, और धरती उनमें पड़ी है। क़ुर्आन में कहा है "अल्लाह है जिसने बुलन्द किया आसमानों को बग़ैर सतून के, जो तुम देख सको (सूरत राद, आयत २)।"

इस आयत पर 'तफ़सीरे-हुसैनी' में लिखा है—"अल्लाह फ़रमाता है कि सतून तो हैं, परन्तु तुम देख नहीं सकते।"

---

१. प्राच्यां त्वा दिशि पुरा संवृतः स्वधायामा दधामि बाहुच्युता पृथिवी द्यामिवोपरि।
२. दक्षिणायां ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,,
३. प्रतीच्यां ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,,
४. उदीच्यां ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,,
५. ध्रुवायां ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,,
६. ऊर्ध्वायां ,, , ,, ,, ,, ,, ,, ,,

मौलाना ने यही बात वेद से निकालनी चाही, परन्तु प्रयास व्यर्थ रहा।

ऋग्वेद ७-९९-३ में कहा है—

"पृथिवी तथा द्युलोक दोनों ऐश्वर्य से भरे हुए हैं, एक में गौवें हैं, दूसरे में किरणें। दोनों धन-धान्य से पूर्ण हैं, तथा मनुष्य के लिए सुखप्रद। ओ प्रकाश के सूर्य, तुमने दोनों भागों को जुदा-जुदा स्थिर कर रखा है, तूने धरती को अपनी किरणों से थामा हुआ है। धरती की मिट्टी तथा आकाश का जल, दोनों वस्तुतः ऐश्वर्य हैं। यहाँ का दूध हमें गौवों से प्राप्त होता है, तथा अलौकिक प्रकाशमय दुग्ध रश्मियों से। सूर्य-रश्मियाँ हमारी धरती को प्रकाशयुक्त भी करती हैं, और आकर्षण से उसे अपने स्थान पर स्थिर भी रखती हैं।"[1]

यहाँ किरणों के लिए 'मयूख' शब्द प्रयुक्त हुआ है जिसका अर्थ खूँटी भी है और किरण भी। यहाँ 'विष्णु' शब्द जो सूर्य का प्रसिद्ध नाम है, विद्यमान है, इसके साथ अर्थ में किरणें उपयुक्त हैं, खूँटी नहीं।

क़ुर्आन में आया है—"और बनाये बीच ज़मीन के पहाड़, ऐसा न हो कि हिल जाये।" तफ़सीरे-हुसैनी इस प्रकार व्याख्या करती है—"और रिवायत है मौज़ा में जहाक से (नाम हैं) कि अल्लाह ने उन्नीस पहाड़ ज़मीन के लिए मेखें (कील) के रूप में बनाये ताकि (धरती) एक स्थान पर स्थिर रहे।" मौलाना ने भी लिख दिया—"ज़मीन के लिए पहाड़ मेखों (कीलों) का काम देते हैं ('वेदों का बहिश्त', पृष्ठ ६)।" भाई! देते होंगे, परन्तु वेद में तो इसका कोई संकेत नहीं। अब मौलाना के आक्षेपों पर हम ध्यान दें। लिखा है—"धरती-आकाश को दो कटोरे मानना भी वेदों का विज्ञान से कोरा होने का प्रमाण है। धरती पकते हुए चावलों की हँडिया है तथा आकाश उसका ढकना; पर्वत खूँटे हैं तथा आकाश के सतून हैं, यह भी वैदिक विज्ञान की तत्त्वज्ञता है। अण्डे के केवल दो भाग होकर, उसके आधे स्वर्णिम भाग से आकाश, और दूसरे आधे रजत भाग से धरती बन गई, यह उपनिषदों का दार्शनिक ज्ञान है।"

---

१. इरावती धेनुमती हि भूतं सूयवसिनी मनुषे दशस्या।
व्यस्तभ्ना रोदसी विष्णवेते दाधर्थ पृथिवीमभितो मयूखैः॥ (ऋ० ७-९९-३)

—हाँ भई, वेदों को इस्लामी विज्ञान का क्या पता? उसे तो मौलाना ही जान सकते हैं। शेष रही उपनिषदों की दार्शनिकता। यह तो चर्चा का विषय ही नहीं था, परन्तु मौलाना को आक्षेप करना ही अभीष्ट है, अतः छान्दोग्य उपनिषद् का प्रमाण देकर जो लिखा है, उसका अर्थ इस प्रकार है—'आदित्य ब्रह्म है', यह मूल है, व्याख्या इस प्रकार है—"यह संसार पहले अस्तित्व में न था, वह वस्तुतः अपने कारण में विद्यमान, अव्यक्त था; वह ब्रह्म उस समय सत् था, व्यक्त था। ब्रह्म ने अपनी सत्ता को प्रकट किया, और अण्डाकार प्रकृति का आवर्तन किया, उसका रूप अण्डे का रहा, अण्डे के दो कपाल हो गये—एक चाँदी का (श्वेत), दूसरा स्वर्ण का (पीला)। जो चाँदी का भाग था, वह धरती बनी; जो स्वर्णिम भाग था वह सूर्य बना।"

(छान्दोग्य ३-१९-१,२)

यह एक वैज्ञानिक सत्य है। संस्कृत में जगत् को ब्रह्माण्ड कहते हैं। उपनिषद् कहते हैं कि इसका मूल सूर्य है, अर्थात् प्रलयकाल में जव यह व्यक्त जगत् नहीं था, कारण विद्यमान था, वह अण्डाकार बना; विज्ञान की पुस्तकों में (Elliptical) अण्डाकार कहा है। उपनिषद् ने उसे अण्डे-सा कहा है। अण्डे के दो भाग होते हैं—बीच का भाग पीला तथा ऊपर का सफेद। संस्कृत में इन्हीं को कपाल कहा है। विज्ञान का कहना है कि यह आवर्तन करता-करता दो भागों में विभक्त हो गया। चारों ओर से एक खोल उतरकर अलग हो गया, और वह धीरे-धीरे प्रकाश-रहित होता गया; मध्य का भाग जो सूर्य रहा, पूर्ण प्रकाशयुक्त रहा, जैसे वह अण्डे का पीला भाग था अथवा स्वर्णिम कपाल था। उतरा हुआ खोल घूम-घूमकर धरती का रूप धारण कर गया। सूर्य की अपेक्षा धरती का रंग श्वेत है। सूर्य स्वर्ण है तो धरती रजत (चाँदी)। उपनिषद् ने मोहक काव्यमयी भाषा में विज्ञान का सत्य कहा है। मौलाना इस काव्य का आनन्द उठाते प्रसन्न होते, परन्तु वे यह आनन्द तो न उठा सके, हाँ, उपनिषद् के दार्शनिक ज्ञान पर आक्षेप अवश्य कर बैठे। *

---

१. आदित्यो ब्रह्मेत्यादेशस्तस्योपव्याख्यानम्। असदेवेदमग्र आसीत्। तत्सदासीत् तत् समभवत्। तदाण्डं निरवर्त्तत। तत्संवत्सरस्य मात्रामशयत। तन्निरभिद्यत। ते आण्डकपाले रजतं च सुवर्णं चाभवताम्। तद्यद्रजतं सेयं पृथिवी; यत्सुवर्णं सा द्यौः। (छान्दोग्य ३।१९।१,२)

तीन लोक

यही लोक प्रलय का प्रतीक्षा-स्थल है और यही स्वर्गलोक है।

पाठक कहीं इस भ्रम में न रहें कि मौलाना शतशः वेदार्थ को अशुद्ध कहने पर तुले बैठे हैं, अथवा हमें मौलाना की हर व्याख्या को ग़लत कहने की सनक है। मौलाना ने कहीं-कहीं बड़े पते की बात भी कही है, जैसे लोक शब्द का अर्थ किया है आलम (स्थान)। परिभाषा एवं व्युत्पत्ति दोनों प्रकार से यह अर्थ उपयुक्त है। लोक शब्द का अर्थ है 'जो देखा जाये, जो जाना जाये'। आलम शब्द के अरबी भाषा में भी कोशगत यही अर्थ हैं। मौलाना लिखते हैं—"वेदों में लोक शब्द प्रायः स्थान और मक़ाम के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।" (पृष्ठ ८) 'लोक' सचमुच इन अर्थों में प्रयुक्त हुआ है, परन्तु शब्द 'स्थान' तथा 'मक़ाम' भी तो अनेक अर्थों में प्रयुक्त होते हैं, जैसे कहते हैं—"आश्चर्य का मक़ाम है! प्रसन्नता का मक़ाम है!" ग़ालिब कहते हैं, 'शुक्र की जगह कि शिकायत नहीं मुझे'; यहाँ मक़ाम तथा जगह 'अवसर' के अर्थ में आते हैं, यहाँ किसी स्थानविशेष से अभिप्राय नहीं, अपितु कहनेवाले की अवस्थाविशेष की ओर संकेत है। आलम शब्द पर ही ज़रा ध्यान दें—आलमे-ख़याल में (कल्पना-लोक में), आलमे-बेदारी (जाग्रतावस्था), आलमे-तिफ़ली (शैशव-काल)। यहाँ आलम शब्द व्यक्ति की बौद्धिक अथवा शारीरिक अवस्था का द्योतक है। यही परिस्थिति 'लोक' शब्द की है। यथा, विवाह-संस्कार में मन्त्र पढ़ा जाता है—यह युवति मायके से पति-लोक को जा रही है[1]। इसका अभिप्राय यह है कि अब यह कन्या गृहस्थ-जीवन को प्रारम्भ करने लगी है। पतिलोक यदि कोई स्थान है, तो वह है पति का घर। वैसे गृहस्थ-जीवन अपने में एक नया लोक है, जिसमें युवति प्रविष्ट होने लगी है। उसका जीवन नया हो जावेगा, परन्तु रहेगी वह इसी धरती पर ही। वेदमन्त्रों में वधू से कहा जाता है—

---

१. कन्यला पितृभ्यः पतिलोकं यती। (गो० २-२-८)

"तुझे स्वस्थावस्था में, यज्ञ के घर, पुण्यकर्मों के लोक में पति के साथ प्रविष्ट करता हूँ।"[१]

पति कहता है—

"ओ प्रकाश-रश्मि ! अमर लोक में प्रविष्ट हो, पति के लिए विवाह को सुखद बना !"[२]

यहाँ गृहस्थाश्रम को अमरता का लोक, अर्थात् जीवन-दायक लोक कहा है। कितनी सार्थक भाषा है ! गृहस्थाश्रम अमरता का स्रोत तो है ही। यही नाम स्वर्ग का भी है।

यह संक्षिप्त व्याख्या आपके सम्मुख रहे, तो आप तीन या सात लोकों की कल्पना ही नहीं, सैकड़ों लोकों की कल्पना कर डालें, और सैकड़ों स्थान अथवा अवस्थाएँ कहते जायें, यह सब हमें स्वीकार है। भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः, सत्यम् ये सब लोक ही हैं; हम सन्ध्या में इन्हीं का ध्यान करते हैं। ईश्वर की जिस महत्ता पर विचार किया जावेगा, ध्यान करनेवाले के मन पर एक नई अवस्था छा जावेगी, और वह स्वयं को एक नये लोक में अनुभव करेगा।

प्रश्न ११—तैतिरमा (तैत्तिरीय) उपनिषद् (मौलाना ने अशुद्ध लिखा है) का जो प्रमाण हमने दिया है, उसमें सात आलमों का वर्णन किया गया है। आर्यसमाज उनको क्यों नहीं मानता ? और जब स्वयं स्वामी दयानन्द जी ने, उसे सत्यार्थप्रकाश (प्रथम) में स्वीकार किया था, तो फिर दूसरी बार छपनेवाले सत्यार्थप्रकाश से उसे निकाल क्यों दिया ?

उत्तर—तैत्तिरीयोपनिषद् में सात आलमों का वर्णन है ही नहीं, और न ही आपने प्रमाण लिखा है। सत्यार्थप्रकाश के प्रथम संस्करण को स्वयं ऋषि दयानन्द ने रद्द कर दिया था, क्योंकि उसमें लिखनेवालों तथा छापनेवालों ने मिलावट कर डाली थी, अतः आपके प्रश्न पर विचार तब किया जावेगा जब आपकी लिखी भाषा तैत्तिरीयोपनिषद् में मिल जायेगी।

---

१. ऋतस्य योनौ सुकृतस्य लोके अरिष्टान्त्वा सह यत्या दधामि।
(ऋ० १०-८५-२४)

२. आ रोह सूर्ये अमृतस्य लोकं स्योनं पतये वहतुं कृणुष्व। (ऋ० १०-८५-२०)

लोक शब्द की व्याख्या में मौलाना लिखते हैं—"वेदाध्ययन से ज्ञात होता है कि यह धरती, मध्य-लोक, तथा आकाश, तीन लोक हैं, और तीनों में प्रजा हैं, और वह प्रजा भी मनुष्य हैं। इस धरती पर हम जीवन व्यतीत करते हैं, मृत्यु के पश्चात् जीव ख़ला (मध्य-स्थान अथवा अन्तरिक्ष) में जायेंगे, जिसे पितृलोक कहा जाता है। इसके पश्चात् आसमान (आकाश) पर पूरा कर्मफल प्राप्त होगा, जहाँ पुण्यकर्मों का फल मिलता है, उसे स्वर्ग कहते हैं।" (पृष्ठ ६)

यह भाषा मौलाना ने अगले अध्यायों की भूमिका-रूप में लिखी है। अपने विचारों के अनुमोदन में उन्होंने जो प्रमाण दिये हैं, उनपर हम आगे चलकर विचार करेंगे। इस्लाम में नरक तथा स्वर्ग के अतिरिक्त आलमे-बरज़ख माना गया है। मृत्यु के पश्चात् मनुष्य कब्र में लेट गया। वहाँ मुनकिर तथा नकीर (दो फ़रिश्ते) से प्रश्न-उत्तर हुए। प्रलय-काल तक प्रतीक्षा करने के पश्चात् नरक अथवा स्वर्ग जो भाग्य में हुआ, उसे प्राप्त किया। मौलाना यह दृष्टिकोण वेदों में खोजने निकले हैं। आपने अभी तक अन्तरिक्ष को ख़ला अथवा सूर्य और धरती के मध्य का भाग स्वीकार किया था (पृष्ठ ८), अब उसे आलमे-बरज़ख (प्रलयकाल का प्रतीक्षा-स्थल) कहने लगे हैं। प्रश्न होता है ऐसा किसलिये ? शायद इसलिये कि वहाँ मनुष्य बसते हैं। परन्तु हमें आश्चर्य है कि क्या इस समय सूर्य तथा धरती के मध्य-भाग में मनुष्य नहीं बसते ? विमानों की बात जाने दें, वैसे साधारण-अवस्था में मनुष्य धरती में तो नहीं छुप जाता; उसका सारा शरीर धरती तथा सूर्य के मध्य-भाग में ही रहता है; फिर वह मृत आत्माओं का स्थान कैसे बन गया ? रही बात पितृ-लोक की, सो जैसे 'पतिलोक' पति के घर को कहते हैं, वैसे ही 'पितृलोक' माता-पिता के अथवा बाप-दादा के घर को कहते हैं। आलमे-पिदरी अथवा पिता बनने की अवस्था भी पितृलोक है। लोक का अर्थ है अवस्था और पितृ का अर्थ पिदरी (फ़ारसी) अर्थात् पिता का; इसे गृहस्थाश्रम का नाम भी दे सकते हैं। एक प्रकार से वानप्रस्थाश्रम भी पितृलोक है। मृत्यु के पश्चात् जीव नया स्थान चाहता है, वह माता-पिता की खोज करता है। किसी पितृलोक में उसे स्थान मिलना चाहिये। पितृलोक का एक नाम अन्तरिक्ष भी है। अन्तरिक्ष का अर्थ है अन्दर का, भीतर का स्थान। यह परिभाषा जननी

के उदर पर भी लागू हो सकती है, जहाँ जिन जीवों की मुक्ति नहीं हो सकी, वे प्रविष्ट होते हैं। दूसरी ओर गृहस्थ दादा बनकर वृद्धावस्था को ज्ञान-ध्यान में लगाने के लिए घर से विरक्त हो जाता है; यह वृद्धावस्था उसका पितृलोक है। पितर का अर्थ है बड़ा, पूज्य; पितृलोक का अर्थ है बड़ों का लोक, और अन्तरिक्ष का अर्थ जैसा हम इससे पूर्व कह चुके हैं, भीतर का स्थान होता है। (वृद्धावस्था में) ध्यानी लोग बाह्य जगत् से विरक्त होकर एकान्त में अपने अन्तर्-लोक में विहार करते हैं; यह उनका पितृलोक है। द्यौ का अर्थ है प्रकाश। वैज्ञानिक आज इस तथ्य को स्वीकार कर चुके हैं कि नक्षत्रों में आबादी है, अतः ऐसे स्थानों पर मनुष्यों का निवास इस्लामी दृष्टिकोण के अनुसार मृत्यु के पश्चात् होता है, ऐसी कल्पना की आवश्यकता नहीं है। और फिर प्रकाश केवल भौतिक नहीं होता, बौद्धिक तथा आत्मिक भी होता है; अतः जहाँ प्रसन्नता है, ज्ञान-विज्ञान है, आत्मिक आनन्द है, वह द्युलोक है, वह स्वर्गलोक है। वैदिक धर्म के ये कुछ दृष्टिकोण हमने भूमिकारूप में उपस्थित किये हैं। यदि हम किसी मत के मन्तव्यों को समझकर उसके सम्बन्ध में आलोचना के लिए लेखनी उठायें, तो जनता को लाभ होगा। निस्सन्देह इन सब लोकों में आबादी है, (ये वसु हैं)। हम तो मरे हुओं में और जीते हुओं में अन्तर नहीं करते, क्योंकि मनुष्य मरकर फिर जी उठता है। वह हर अवस्था में पृथिवी, आकाश, सूर्य, अन्तरिक्ष तथा किसी प्रकाशलोक में, कहीं भी रह सकता है। यह संसार ही आलमे-बरज़ख (प्रलय का प्रतीक्षा-स्थल) है और यही स्वर्ग-स्थान। आप व्यर्थ में दूर की कौड़ी लाने को भाग-दौड़ क्यों करते हैं? और यदि आपका यह मन्तव्य है कि स्वर्ग कोई ऐसा स्थानविशेष है जहाँ जीव शरीर को छोड़ने के पश्चात् केवल कर्मफल ही प्राप्त करता है और नये कर्म नहीं करता, तो इसके लिए प्रमाण चाहिये। आपने जो **'सुकृतस्य लोकः'** का वर्णन किया है, यह तो आपके मन्तव्य के विरुद्ध जाता है। **सुकृतस्य लोक** का अर्थ है 'शुभकर्मों का लोक' और यह स्वर्ग का पर्यायवाची है, अर्थात् जहाँ शुभ कर्म किये जावेंगे वहाँ स्वर्ग होगा। फल तो पूर्वकृत कर्मों का भी और अब किये जा रहे कर्मों का भी हर समय मिल रहा है। पुण्यकर्म करने से पुण्यात्माएँ जो तत्काल आत्मिक आनन्द अनुभव करती हैं, वह सहस्र स्वर्ग-सुख से भी बढ़कर है। वस्तुतः

कर्म-क्षेत्र और फल-क्षेत्र एक ही हैं, ताने-बाने के समान ओत-प्रोत हैं, अतः यही आलमे-बरज़ख है और यही लोक स्वर्गलोक है।

प्रश्न १२—जब लोक के अर्थ कोश, वेदों की उक्तियों, शास्त्र तथा पश्चिमी विद्वानों की खोज के अनुसार एक 'स्थान' अथवा 'संसार' का एक भाग है तो आर्यसमाज स्वर्गलोक को एक स्थानविशेष क्यों नहीं स्वीकार करता ?

उत्तर—आर्यसमाज मानता है, परन्तु 'लोक' शब्द के अर्थ आप वही स्वीकार कर लें, जो हमने ऊपर दिये हैं, तब लोक किसी स्थान-विशेष की सीमा में न रहकर, अवस्था या काल इत्यादि में प्रयुक्त हो सकेगा। एक संकीर्ण घेरे से निकलकर वह विस्तृत क्षेत्र में प्रयुक्त होने-वाला शब्द बन जावेगा, जो वस्तुतः उसका अर्थ है। संक्षेप में हम कहें तो स्वर्गलोक 'सुखविशेष की अवस्था' अथवा 'प्रकाश की अवस्था' का नाम है। इसे आप चाहें तो सुख-स्थान कह लें अथवा सुख की अवस्था कह लें या सुख का काल कह लें, वह सब स्वर्गलोक है।

यदि मौलाना के कथनानुसार लोक का अर्थ केवल 'स्थान' ही मान लें तो स्वर्ग का अर्थ होगा 'सुख का स्थान'। अब इसमें स्थानविशेष का बन्धन कैसा ? जहाँ सुख होगा वहाँ स्वर्ग माना जावेगा। इस शब्द को किसी स्थानविशेष में सीमित करके, इसे सीमित अर्थवाला सिद्ध करना तो कोई तर्क नहीं।

❋

पुनर्जन्म

मौलाना लिखते हैं—

"जहाँ तक मैंने वेद-विषयक मनन किया है, मुझे कोई मन्त्र पुनर्जन्म के समर्थन में नहीं मिला। शास्त्रार्थों में भी मैंने यह प्रश्न उपस्थित किया, परन्तु आर्यसमाज आज तक पुनर्जन्म के पक्ष में कोई वेदमंत्र प्रस्तुत नहीं कर सका, जिसमें स्पष्टतया यह प्रतिपादन किया गया हो।" (पृष्ठ १८)

पुनः कहा है—

"पुनर्ज़न्म का मन्तव्य, जो इस (नरक के विशेष स्थान पर होने) के सर्वथा विपरीत है, मनुस्मृति आदि ग्रन्थों में पीछे से मिलाया हुआ है। नहीं तो वेदों में पापियों के लिए नरक-प्राप्ति के अतिरिक्त कुछ नहीं लिखा। वेद नरक के अस्तित्व को तो मानते हैं और पुनर्जन्म से इन्कार करते हैं।" (पृष्ठ २५)

इस विषय का एक आक्षेप भी प्रश्नों की सूची में सम्मिलित कर लिया है :

प्रश्न १३—"क्या कब्र का दुःख-वर्णन (मन्त्र १५, १६) नरक के कष्टों का वर्णन, विशेष रूप से सदा के दुःख-सम्बन्धी मन्त्र (मन्त्र १९), प्रलयकालीन प्रतीक्षास्थल, स्वर्ग का स्थानविशेष का वर्णन (१८-६४) क्या यह सब पुनर्जन्म का खण्डन नहीं? और फिर उस अवस्था में, जबकि चारों वेदों में पुनर्जन्म के समर्थन में एक मन्त्र भी न मिल पाये?"

—वेदों के अध्ययन की द्योतक तो मौलाना की यही विवादास्पद पुस्तिका ही है। शास्त्रार्थों में भी मौलाना यही कुछ कहते होंगे! मौलाना का यह विचार कि पुनर्जन्म का सिद्धान्त नरक के किसी स्थान-विशेष पर मानने के मन्तव्य से विपरीत है, पौराणिक भाइयों से अपना अलगाव कर लेता है। नरक, स्वर्ग, कब्र तथा कब्र का दुःख, इन विषयों

पर हम पुस्तक के अन्य अध्यायों में विचार करेंगे; इस अध्याय में तो केवल यह देखना है कि क्या वेद पुनर्जन्म से इन्कार करता है? इन्कार का अर्थ है किसी मन्तव्य को उपस्थित करके उसका खण्डन हो। शायद मौलाना समर्थन के न होने को ही खण्डन मानते हैं। हम उनका ध्यान निम्नलिखित वेद-मन्त्रों की ओर आकर्षित करते हैं, वे ध्यान करें! श्मशान में शव को जलाते समय यह मन्त्र पढ़ा जाता है—

"नेत्रों का प्रकाश सूर्य में मिल जाये, प्राण वायु में मिलें, तू अपने कर्मानुसार प्रकाश-लोक में जा यदि वहाँ तेरा भला हो, अथवा पौधों में शरीर के साथ स्थित हो।"[1] (ऋ० १०-१६-३)

मौलाना! यह पुनर्जन्म-वर्णन नहीं तो क्या है? जीव कहाँ-कहाँ शरीर धारण करता है, यह इस मन्त्र में स्पष्ट कहा गया है। और भी देखिये—

"तेरा मन कर्मयुक्त जीवन के लिए तत्पर जीवन में पुनः-पुनः आये। (तू) अच्छी प्रकार आध्यात्मिक प्रकाश को देख!"[2]

(ऋ० १०-५७-४)

"ऐ देवो! हमारा पिता परमेश्वर हमें पुनः-पुनः इस अनुभूति-मय जगत् में लाये। हम जीवित लोगों की श्रेणी में हों।"[3]

(ऋ० १०-५७-५)

अथर्ववेद (१८-२-५२) में इस शरीर को पुराना वस्त्र कहा गया है। यही बात 'गीता' में इन शब्दों में कही गई है—

"जैसे पुराने वस्त्रों को उतारकर मनुष्य नये वस्त्र धारण करता है, ऐसे ही पुराने शरीर को छोड़कर जीव नये शरीरों को धारण करता है।"[4]

---

१. सूर्य चक्षुर्गच्छतु वातमात्मा द्यां च गच्छ पृथिवीं च धर्मणा।
अपो वा गच्छ, यदि तत्र ते हितमोषधीषु प्रति तिष्ठा शरीरैः॥
(ऋ० १०-१६-३)

२. आ त एतु मनः पुनः क्रत्वे दक्षाय जीवसे। ज्योक् च सूर्य दृशे॥ (१०-५७-४)

३. पुनर्नः पितरो मनो ददातु दैव्यो जनः। जीवं व्रातं सचेमहि॥
(ऋ० १०-५७-५)

४. वासांसि जीर्णानि यथा विहाय, नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही॥ (गीता २-२२)

वेद का आदेश है—

"यह तेरा वस्त्र पुराना हो गया है, इसे उतार दे। तूने अब तक इसे धारण किया। (अब) अपने श्रौत तथा स्मार्त कर्मानुसार, बुद्धि के साथ नाना प्रकार के सम्बन्धों में जो स्थान तुझे मिले, वहाँ जा।"[1] (अथर्व० १८-२-५७)

हमारा विचार है कि मौलाना के सन्तोष के लिए इतने मन्त्र पर्याप्त हैं। हम पहले लिख चुके हैं कि जब किसी की मृत्यु पर वेद कहता है कि वह पितरों के पास जाये, तो उसका अर्थ यह है कि वह माता-पिता की गोदी को बसाये, अर्थात् दोबारा जन्म ले। नये जन्म लेनेवाले बच्चे का पितृलोक यही माता-पिता का घर है, जैसे विवाहिता वधू का पति-लोक उसके पति का घर ही है। हम उन वेद-मन्त्रों का और भी संकेत कर देते, परन्तु इस विचार से कि आप उनका अभिप्राय और समझ बैठे हैं, और विवादास्पद विषय पितृ-लोक है, हमने अन्य मन्त्रों का प्रमाण दिया है, जिनमें न केवल पितृलोक का वर्णन है, अपितु उसकी व्याख्या भी इतनी स्पष्ट है कि वेद के अभिप्राय को समझने तथा स्पष्ट करने के लिए किसी अन्य प्रमाण अथवा तर्क की आवश्यकता नहीं रहती। फिर भी यह दृष्टिकोण कि पितृलोक, नरक तथा स्वर्ग विभिन्न परिस्थितियों के नाम हैं, इस मन्तव्य का अधिक अनुमोदन वेद में पुनर्जन्म का सिद्धान्त माने जाने से स्वयमेव हो जाता है। मौलाना स्वयं भी तो यह लिख चुके हैं कि पुनर्जन्म का मन्तव्य नरकादि को किसी स्थानविशेष पर मानने के सिद्धान्त से सर्वथा विपरीत है।

*

---

१. एतत्त्वा वासः प्रथमं न्वागन्नपैतदूह यदिहाविभः पुरा।
इष्टापूर्तमनुसंक्राम विद्वान् यत्र ते दत्तं बहुधा बिबन्धुषु॥
(अथर्व० १८-२-५७)

पितृलोक

माता-पिता का घर, वृद्धावस्था, आन्तरिक संसार

पितर शब्द के व्युत्पत्ति से अर्थ हैं—पालन करनेवाला, अथवा रक्षा करनेवाला। प्रयोग में यह शब्द पिता के लिए प्रयुक्त होता है। बहुवचन में बड़ों के अर्थ में जाता है। इंग्लिश भाषा का शब्द 'फ़ादर' संस्कृत के 'पितर' शब्द का अपभ्रंश है। आंग्ल भाषा में पादरी को 'फ़ादर कहते हैं, क्योंकि वह शिक्षा देता है; नगरपालिका के सदस्यों को 'सिटी फ़ादर' कहते हैं, यही अवस्था संस्कृत शब्द 'पितर' की है। मनु ने लिखा है—"पिता तथा वेद पढ़ानेवाले पितरों में से वेद पढ़ानेवाला बड़ा पिता है।"[1] (मनु० २-१४६)

"वेद में जन्म देनेवाला, अपने धर्म की शिक्षा देनेवाला (ब्राह्मण-) बच्चा भी धर्मानुसार वृद्ध शिष्य का पिता होता है।"[2] (मनु० २-१५०)

एक विद्वान् का कथन है—"पिता, यज्ञोपवीत देनेवाला, शिक्षक, भोजन देनेवाला और आपत्ति से रक्षा करनेवाला, ये पाँचों पितर कहलाते हैं।"[3] स्वयं वेद ने एक स्थान पर इन शब्दों का भाव इस प्रकार कहा है—

> "वेदज्ञ विज्ञान ही उस अनादि अनन्त परमेश्वर का वह स्वरूप बता सकता है, जो अव्यक्त है। उसके (महत्त्व के) तीन भाग अप्रत्यक्ष हैं। जो उन्हें जानता है, वह पितरों का भी पितर है।"[4]
>
> (अथर्व० २-१-२)

---

१. उत्पादक-ब्रह्मदात्रोर्गरीयान् ब्रह्मदः पिता। (मनुः २-१४६)

२. ब्राह्मस्य जन्मनः कर्ता स्वधर्मस्य च शासिता।
बालोऽपि विप्रो वृद्धस्य पिता भवति धर्मतः॥ (मनु० २-१५०)

३. जनकश्चोपनेता च यश्च विद्यां प्रयच्छति,
अन्नदाता, भयत्राता, पंचैते पितरः स्मृतः।

४. प्र तद्वोचेदमृतस्य विद्वान् गन्धर्वो धाम परमं गुहा यत्।
त्रीणि पदानि निहिता गुहास्य यस्तानि वेद स पितुष्पितासत्॥(अथर्व० २-१-२)

राजा अपनी सभा के सदस्यों को वेदानुसार यह शिक्षा दें—

"सभा तथा समिति (दो सभाएँ) जो राजा को पूर्ण बनाती हैं, मेरी रक्षा करें। ऐ पितरो! मैं जिससे मिलूँ वह मुझे शिक्षा दे। सभाओं में मैं मन को मोहनेवाला भाषण दूँ।"[1]

इन तथ्यों को ध्यान में रखने से पितृलोक के अर्थ शीघ्र समझ में आ जाते हैं। पितृलोक का अर्थ है—वृद्धावस्था, अथवा बड़ों का उच्च स्थान। वृद्धावस्था में तो वैसे ही वानप्रस्थ अथवा संन्यास लिया जाता है, तब मनुष्य न केवल अपनी सन्तान का, अपितु समस्त जाति एवं नगर-भर का पिता बन जाता है। जहाँ ऐसे लोग रहते हैं, उसे भी पितृ-लोक कहा जाता है। आर्यशास्त्रों की यह मर्यादा है कि गृहस्थ जब पचास वर्ष का हो जाये, अथवा उसका पोता या पोती हो जावे, तो यह गृहस्थजीवन को त्याग दे, इन्द्रियों पर विजय पाये, तथा तप का जीवन बिताये। अब उसका कर्त्तव्य है कि ज्ञान, ध्यान, सद्ग्रन्थों का अध्ययन करे और भगवद्-भजन में लगा रहे।

मौलाना का आग्रह है कि पितर नाम मृत-आत्माओं का है जो शरीर छोड़ चुकी हैं, और इसका कारण वे बताते हैं—"मरे हुए व्यक्तियों की आत्माएँ (प्रलय के प्रतीक्षा-काल में) अपने सम्बन्धियों अथवा उनके नाम पर दान देनेवालों को नाना प्रकार का ऐश्वर्य प्रदान करती हैं, अतः वे पितर अथवा पालन करनेवाले कहलाते हैं।" (पृष्ठ २८)

मौलाना! इसमें कोई वेद का प्रमाण? (शायद नहीं) निरुक्त का यह वचन प्रमाण-रूप में प्रस्तुत किया है कि पितर पालन करनेवाले को कहते हैं, अथवा रक्षा करनेवाले को कहते हैं; परन्तु इसमें प्रलय का प्रतीक्षा-काल (आलमे-बरज़ख़) कहाँ से आ गया? अथवा मृतकों की आत्माएँ अथवा उनका प्रदान किया ऐश्वर्य किस शब्द का भाव है? आप फ़रमाते हैं—"शतपथ ब्राह्मण में लिखा है कि मास में एक दिन, जब चन्द्रमा का उदय हो, तब पितरों को खाना खिलाया जावे। यह बात मनु ने भी कही है। परन्तु मनु ने तो यह भी लिखा है—"प्रतिदिन

---

१. सभा च मा समितिश्चावतां प्रजापतेर्दुहितरौ संविदाने।
येना संगच्छा उप मा स शिक्षाच्चारु वदानि पितरः संगतेषु॥
(अथर्व० ७-१२-१)

भोजन से, पानी से, दूध-फल-फूल से, प्रेम के साथ पितरों का श्राद्ध करें।"[1]

मौलाना को क्या पता कि पितृयज्ञ में आर्यों के लिए दैनिक अपने पितरों को भोजन खिलाना कर्त्तव्य माना गया है। मासिक यज्ञ तो विशेष निमंत्रण की बात है। जो वृद्ध पुरुष वानप्रस्थ में ज्ञान-ध्यान में मग्न रहते हैं, उनके सम्बन्ध में बृहदारण्यकोपनिषत् में कहा है—"साधारण मनुष्यों के सौ सुख, पितरों के एक आनन्द के तुल्य हैं जिन्होंने अपनी इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर ली है (बृहदा० ४-३-३३)।"[2] यह सर्वथा उपयुक्त है। इन्द्रियों के जीतने में जो आनन्द है, वह भोग में कहाँ? वेद में कहा है—

> "मरे हुए लोग पितरों में उत्पन्न हों।"[3] अर्थात् माता-पिता की गोदी बसाएँ। (अथर्व० १८-४-४८)

अन्तरिक्ष शब्द का एक अर्थ हम कह चुके हैं—अन्दर का स्थान, अन्तर्मुखी होना। समाधि में बाह्य संसार से हटकर साधक हृदय-कुटीर में प्रविष्ट होता है। वेद का कथन है—

> "जो हमारे 'पितरों के पितर' अर्थात् पितामह, विस्तृत आत्मिक क्षेत्र में प्रविष्ट हो चुके हैं, उनके लिए जीवन का प्रबन्ध करनेवाला सर्वज्ञ इच्छानुसार शरीर उपस्थित करता है।"[4]
> (अथर्व० १८-३-५९)

उक्त मन्त्र में शब्द 'पितरों के पितर' का अर्थ वेद ने स्वयं अथर्व०

---

१. कुर्यादहरहः श्राद्धमन्नाद्येनोदकेन वा।
पयोमूलफलैर्वापि, पितृभ्यः प्रीतिमावहन्॥ (मनु० ३-८२)

२. ये शतं मनुष्याणामानन्दाः स एकः पितृणां जितलोकानामानन्दः।
(बृहदा० ४-३-३३)

३. अधा मृताः पितृषु सं भवन्तु। (अथर्व० १८-४-४८)

४. ये नः पितुः पितरो ये पितामहा ये आविविशुरुर्वन्तरिक्षम्।
तेभ्यः स्वराडसुनीतिनो अद्य यथावशं तन्वाः कल्पयाति॥
(अथर्व० १८-३-५९)

२-१-२ में कहा है—'परमेश्वर को जाननेवाला'। ऐसे महान् आत्माओं का स्थान अन्तर्लोक ही तो है! इसी अभिप्राय से निरुक्त ने पितरों का लोक अन्तरिक्ष-लोक कहा है।

इससे पूर्व हम कहीं निवेदन कर आये हैं कि लोकों का विभाजन, आश्रमों के विभाजन की ओर भी संकेत करता है। ब्रह्मचारी तो सिवाय इसके कि बाल-ब्रह्मचारी रहे, पिता होता ही नहीं। वह आचार्य के उदर में रहता है। पितरों की अवस्था प्रायः गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास में होती है। पितरों का स्थान अन्तरिक्ष है और द्युलोक है, इसका अभिप्राय इन तीनों आश्रमों की ओर संकेत करना होता है। गृहस्थ पृथिवीलोक है, क्योंकि यह उत्पत्ति एवं भौतिक सुख का आश्रम है; वानप्रस्थ अन्तरिक्ष है, क्योंकि इस आश्रम के वासी अपने भीतर के लोक में वास करते हैं, और संन्यास द्युलोक है—वहाँ प्रकाश ही प्रकाश है, अतः वेद ने कहा है—

> "उन महान् पुरुषों की सेवा करो जो द्युलोक में (संन्यास में) हैं, उनकी सेवा करो जो अन्तरिक्ष (वानप्रस्थ) में हैं, तथा उनकी सेवा करो जो पृथिवी (गृहस्थ) में हैं।"[1]
>
> (अथर्व० १८-४-८०, ७९, ७८)

मौलाना ने इन मन्त्रों में से बीच का मन्त्र तो ले लिया, दूसरे दो छोड़ दिये, केवल यह सिद्ध करने के लिए कि पितरों का स्थान अन्तरिक्ष है; परन्तु यहाँ तो पृथिवी तथा द्यौ भी पितरों का स्थान बताए गये हैं। वस्तुतः उनका अभिप्राय वही है जो हम ऊपर बता चुके हैं। अथर्व १८-२-४८ का अनुवाद हम लिख चुके हैं। पितर ज्ञान-ध्यान में रहनेवाला महान् आत्मा ही होता है। वह इस भौतिक जगत् के कारण पर विचार करता हुआ सूक्ष्म दार्शनिक समस्याओं पर सोचता है। लिखा है—

> "लहरोंवाली द्यौ निचली है, कणों से मुक्त द्यौ मध्य की है, उससे सूक्ष्मतर और द्यौ है जिसमें पितर निवास करते हैं।"[2]
>
> (अथर्व० १८-२-४८)

---

१. स्वधा पितृभ्यो दिविषद्भ्यः, स्वधा पितृभ्यो अन्तरिक्षसद्भ्यः, स्वधा पितृभ्यः पृथिविषद्भ्यः। (अथर्व० १८-४-८०, ७९, ७८)

२. उदन्वती द्यौरवमा, पीलुमतीति मध्यमा।
तृतीया ह प्रद्यौरिति यस्यां पितर आसते॥ (अथर्व० १८-२-४८)

द्यौ का अर्थ है प्रकाश। भौतिक प्रकाश के दो रूप विज्ञान बताता है—एक लहरें तथा दूसरा कणयुक्त। पितरों का प्रकाश आत्मिक होता है, जिसका भौतिक प्रकाश से ऊँचा स्थान है। पितर के एक अन्य अर्थ निघण्टु में 'किरणें' भी कहा है। इस अवस्था में अन्तिम वाक्य का सम्बन्ध प्रयुक्त हर वाक्य से होगा, अर्थात् हर द्यौ किरणों से युक्त है। मौलाना ने द्यौ का अर्थ 'ख़ला' (अवकाश का स्थान) ही किया है। यह अर्थ उनके अपने स्थान-विभाजन के भी विरुद्ध है। वस्तुतः आपके मन में यह विचार बैठ गया है कि पितर अन्तरिक्ष में रहते हैं; फिर चाहे पृथिवी तथा द्यौ का भी वर्णन पितरों के साथ हो, पर मौलाना उसका अर्थ आकाश ही करेंगे।

ऋग्वेद मं० १०, सूक्त १५ में वर्णन आया है—

"शान्त पितर छोटे, बड़े तथा मध्य के उन्नत स्थानों को पार करें। अहिंसक आत्मज्ञान से युक्त जिन्होंने नथा (आत्मिक) जीवन प्राप्त किया है, वे हमारे निमंत्रण पर पधारने की कृपा करें।"[1]

"यह सम्मान उनके लिए है जो उन्नति के प्रथम सोपान पर हैं, अथवा उससे ऊपर (संन्यासावस्था में), और जो पृथिवीलोक (गृहस्थाश्रम) में हैं, अथवा जो शुभ-शक्तियुक्त होकर जनसाधारण में रहते हैं।"[2]

"ओ सब्ज़े को (हमारे हृदयों को) आसन बनानेवाले पितरो! आपकी कृपादृष्टि हमपर हो, हम आपकी सेवा का प्रबन्ध करते हैं। इसे स्वीकार करें! आप पधारिये। आपकी कृपा अत्यन्त कल्याणप्रद है। आप हमें शुभाशीष दें, हमें दुःख से छुटकारा दें, और निष्पापता का स्वभाव हमें दें।"[3]

"हमने पितरों को निमंत्रित किया है। वे सन्तोष की प्रतिमाएँ हमारे हृदयों (यां कुशा के) आसन पर विराजें और इन प्रिय

---

१. उदीरतामवर उत्परास उन्मध्यमाः पितरः सोम्यासः।
असुं य ईयुरवृका ऋतज्ञास्ते नोऽवन्तु पितरो हवेषु॥ (ऋ० १०-१५-१)

२. इदं पितृभ्यो नमो अस्त्वद्य ये पूर्वासो य उपरास ईयुः।
ये पार्थिवे रजस्या निषत्ता ये वा नूनं सुवृजनासु विक्षु॥ (ऋ० १०-१५-२)

३. बर्हिषदः पितर ऊत्यर्वागिमा वो हव्या चकृमा जुषध्वम्।
त आ गतावसा शन्तमेनाथा नः शं योररपो दधात्॥ (ऋ० १०-१५-४)

निधियों को स्वीकार करें। वे पधारें, हमारी प्रार्थना स्वीकार करें और हमें शिक्षा देकर हमारी रक्षा करें।''[१]

''घुटने टेककर, और दाईं ओर बैठकर सब इस (निमंत्रण के) यज्ञ को इस प्रकार प्रस्तुत करो। ऐ पितरो ! हमें किसी आपत्ति में न डालें। हम मनुष्य हैं, हमसे अपराध होना सम्भव है।''[२]

''ऊन के आसनों पर विराजमान आप यज्ञ करनेवाले इस नश्वर मनुष्य को ऐश्वर्य प्रदान करें। ऐ पितरो, इसकी सन्तान को ऐश्वर्य-सम्पन्न करें। वे संसार में सामर्थ्ययुक्त हों।''[३]

''जो पितर यहाँ हैं, अथवा जो यहाँ नहीं हैं, जिन्हें हम जानते हैं और जिन्हें हम नहीं जानते, ऐ सर्वज्ञ ! वे पितर जितने भी हैं, आप उन सबको जानते हैं, आप अच्छी प्रकार सम्पन्न किये गये इस यज्ञ को अपनी शक्ति से स्वीकार करें।''[४]

यह पितरों तथा महातमाओं की सेवा का प्रकार है, जिसे वैदिक परिभाषा में पितृयज्ञ कहा जाता है। सब्ज़े को (हरी घास को) आसन बनानेवाले वानप्रस्थ ही तो होते हैं। हार्दिक प्रेम से उन्हें घर पर बुलाना, उनके सम्मुख घुटने टेककर बैठना, दाईं ओर से उन्हें पदार्थ प्रस्तुत करना, क्षमा चाहते हुए उनसे शिक्षा प्राप्त करना, प्रिय-से-प्रिय वस्तु उन्हें भेंट करना, और अन्त में यह सब प्रभु-कृपा समझकर उसे ईश्वरार्पण कर देना, यह पितृ-यज्ञ का प्रकार है। भला मृतकों के जीवों का इससे क्या सम्बन्ध ? जैसे अग्नि अथवा धरती से शव के सुख की प्रार्थना मौलाना की दृष्टि में व्यर्थ है, ऐसे ही मृत-आत्माओं के सम्मुख घुटने टेककर बैठना, अथवा उनके दाईं ओर बैठना व्यर्थ की बात है।

---

१. उपहूताः पितरः सोम्यासो बर्हिष्येषु निधिषु प्रियेषु।
त आ गमन्तु त इह श्रुवन्त्वधि ब्रुवन्तु तेऽवन्त्वस्मान्॥ (ऋ० १०-१५-५)

२. आच्या जानु दक्षिणतो निषद्येमं यज्ञमभि गृणीत विश्वे।
मा हिंसिष्ट पितरः केन चिन्नो यद्व आगः पुरुषता कराम॥ (ऋ० १०-१५-६)

३. आसीनासो अरुणीनामुपस्थे रयिं धत्त दाशुषे मर्त्याय।
पुत्रेभ्यः पितरस्तस्य वस्वः प्र यच्छत त इहोर्जं दधात॥ (ऋ० १०-१५-७)

४. ये चेह पितरो ये च नेह याँश्च विद्म याँ उ च न प्रविद्म।
त्वं वेत्थ यति ते जातवेदः स्वधाभिर्यज्ञं सुकृतं जुषस्व॥ (ऋ० १०-१५-१३)

अथर्ववेद में कहा है—

"ओ तेजस्वी साधक ! इस शरीर को जला नहीं। इसे कष्ट न दे ! त्वचा को मत उधेड़ ! इस शरीर को उखेड़ नहीं ! जब इसे दृढ़ बना ले, तो इसे पितरों के पास पहुँचा दे।"[1]

(अथर्व० १८-२-४)

यजुर्वेद में कहा है—

"जिनके कर्मकाण्ड का अग्नि ने आनन्द लिया है और जिनका नहीं लिया, वे प्रकाश में (स्वकर्मों का) फल पाकर आनन्दित होते हैं। उनके लिए भौतिक जगत् स्वेच्छापूर्वक संसार में आने के लिए शरीर बना देता है।"[2] (यजु० १९-६०)

यही विषय एक शब्द के अन्तर के साथ ऋ० १४-१५ में कहा गया है। मुक्ति के दो मार्ग हैं—कर्मकाण्ड, तथा ज्ञानकाण्ड। कर्मकाण्डी यज्ञ करता है, वैदिक परिभाषा में उन्हें 'अग्निष्वात्ता' अथवा 'अग्निदग्धा' कहते हैं। अग्नि यज्ञ का प्रतीक है। क़ुर्आन में भी आया है—"सौभाग्य दिया गया जो कोई बीच अग्नि के, और उसके चारों ओर हों।" यह वह अग्नि है जिसके समीप जाने के लिए मूसा को जूते उतारने का आदेश मिला है। स्पष्ट ही यह यज्ञाग्नि है। वेद में कहा है—

"उनका महान् तेज प्रकट हुआ। समस्त जीवित जगत् अन्धकार से मुक्त हो गया। पितरों का दिया हुआ महान् प्रकाश चमक उठा। उदारता का विस्तृत मार्ग दृष्टि में आया।"[3]

(ऋ० १०-१०७-१)

"घुटने टेककर और दाईं ओर बैठकर सब दिशाओं का यज्ञ (यह कहकर) प्रस्तुत करें—'ऐ पितरो ! हमें किसी कारण से

---

१. मैनमग्ने वि दहो माभि शूशुचो मास्य त्वचं चिक्षिपो मा शरीरम्।
शृतं यदा करसि जातवेदोऽथेमेनं प्र हिणुतात्पितृँरुप ॥ (अथर्व० १८-२-४)

२. येऽअग्निष्वात्ता येऽअनग्निष्वात्ता मध्ये दिवः स्वधया मादयन्ते।
तेभ्यः स्वराडसुनीतिमेतां यथावशं तन्वं कल्पयाति ॥ (यजु० १९-६०)

३. आविरभून्महि माघोनमेषां विश्वं जीवं तमसो निरमोचि।
महि ज्योतिः पितृभिर्दत्तमागादुरुः पन्था दक्षिणाया अदर्शि ॥
(ऋ० १०-१०७-१)

आपत्ति में न फँसने दें। हम मनुष्य हैं, हमसे आपके प्रति अपराध सम्भव हैं'।"[1]

(यजु० १९-६२)

अपनी पुस्तक के पृष्ठ ३६ पर मौलाना ने 'शतपथ ब्राह्मण'[2] का प्रमाण दिया है। पितृलोक का उत्तर की ओर झुकाव होता है। (शतपथ ४४७) यहाँ पितृलोक का अर्थ श्मशान होता है और उसके बनाने का प्रकार बताया गया है। अथर्ववेद में कहा है—

"मरनेवालों में जो सबसे पहले मरा (अर्थात् जिसने सर्वप्रथम अपना बलिदान दिया), जो सर्वप्रथम इस लोक को पहुँचा, प्रकाश-स्वरूप ईश्वर के उस पुत्र, मानव-समाज के हितैषी, तपस्या की मूर्ति, तेजस्वरूप की सेवा श्रद्धा से करो!"[3]

(अथर्व० १८-३-१३)

मरना भला है उसका जो अपने लिए जिये,
जीता है वो जो मर चुका इन्सान के लिए।

यहाँ उस जीवित बलिदानी का वर्णन है जिसने जीते-जी अपने-आपको मृत्यु के लिए अर्पित कर दिया; किसी भले काम के लिए जिसने सबसे पहले अपने तन-मन का बलिदान दिया। मौलाना कहते हैं—"इस संसार में सर्वप्रथम जो मरा, वेदों में उसी का नाम यम कहा गया है।" (पृष्ठ ९) मन्त्र में यह विषय तो आया है, परन्तु 'इस संसार' यह वाक्य मौलाना का अपना कौशल है। वेद में है—'मरनेवालों में' अथवा 'मरण-धर्मा मनुष्यों में'। हमने ऊपर जो उर्दू का शे'र लिखा है, उसमें जो अभिप्राय 'मर चुका है', वेद में वही अभिप्राय 'मरा' शब्द से है। प्रयोग तो भूतकाल का हुआ है, परन्तु इसका अर्थ है सदा-वर्तमान। जो सर्व-प्रथम मरता है उसे 'यम' अर्थात् 'तपस्या की मूर्ति' कहते हैं।

---

१. आच्या जानु दक्षिणतो निषद्येमं यज्ञमभि गृणीत विश्वे।
मा हिँसिष्ट पितरः केन चिन्नो यद्वऽआगः पुरुषता कराम॥ (यजुः० १९-६२)

२. आच्छाजानु दक्षिणा निषद्य। दक्षिणा प्रवणां वै पितृव्यक्त।
(शतपथ का० ३१, प्र० ४, ब्रा० ४, क० ७)

३. यो ममार प्रथमो मर्त्यानां यः प्रेयाय प्रथमो लोकमेतम्।
वैवस्वतं संगमनं जनानां यमं राजानं हविषा सपर्यत॥ (अथर्व० १८-३-१३)

"जो खोदी हुई, जो बोई हुई, पकाई हुई और जो ऊपर उठाई हुई वस्तुएँ हैं, ऐ कर्मकाण्डी गृहस्थ! उन सबको भोजन के लिए पितरों के अर्पित कर!"[1] (अथर्व० १८-२-३४)

"ऐ यज्ञ से सुरक्षित पितरो! आओ, सुशिक्षा देते हुए अपने-अपने आसनों पर विराजो! हमारी अर्पित की हुई वस्तुओं का भक्षण करो और हमें वीरों-जैसे अमूल्य पदार्थ प्रदान करो।"[2]

(अथर्व० १८-३-४४)

"मैंने मनुष्यों के दो मार्ग बनाए हैं—एक देवताओं का, दूसरा पितरों का मार्ग। इन दो मार्गों से सारा संसार जा रहा है जो माता-पिता के द्वारा आते हैं (अर्थात् समस्त जीवित प्राणी)।"[3]

(यजुः० १६-४७)

"देवयान का अर्थ है मोक्ष, और पितृयान का अर्थ है आवागमन का चक्र। यही बात छान्दोग्य उपनिषद् में वर्णित है। देवयान प्रकाश का मार्ग है और उसकी तुलना में पितृयान अन्धकारयुक्त है। अलंकृत रूप में इस प्रकार भी कहा है कि देवयान के पथिक रश्मि से दिन, दिन से शुक्ल पक्ष और उससे उत्तरायण को प्राप्त होते हैं।"

(छान्दोग्य ५-१०-१)

इसके विपरीत पितृयान के यात्री धूमरात्रि, कृष्ण पक्ष तथा दक्षिणायन को प्राप्त होते हैं। मौलाना ने इसे मृतकों के जीवों की विभिन्न अवस्थाएँ मान लिया है, परन्तु यहाँ तो मृत्यु का कहीं वर्णन भी नहीं है। रश्मि व दिन और पखवाड़ा क्या अवस्थाएँ होती हैं? उपनिषत्कार का तो अभिप्राय इन दो प्रकार के व्यक्तियों की बौद्धिक अनुभूति की तुलना से है। एक प्रकाश-लोक में है, दूसरी उसकी अपेक्षा अन्धकार के लोक में है। पितृयान के सम्बन्ध में यह भी कहा है—"इस

---

१. ये निखाता ये परोप्ता ये दग्धा ये चोद्धिता।
सर्वांस्तानग्न आ वह पितॄन् हविषे अत्तवे॥ (अथर्व० १८-२-३४)

२. अग्निष्वात्ताः पितर एहे गच्छन्त सदःसदः सदत्त सुप्रणीतयः।
अत्तो हवींषि प्रयतानि बर्हिषि रयिं च न सर्ववीरं दधात॥
(अथर्व० १८-३-४४)

३. द्वे सृतीऽअशृणवं पितॄणामहं देवानामुत मर्त्यानाम्।
ताभ्यामिदं विश्वमेजत्समेति यदन्तरा पितरं मातरं च॥ (यजुः० १६-४७)

लोक में अपने कर्मफल के भोग के लिए वे पुनः-पुनः आते हैं।" (छां० ५-१०-२५) यही पुनर्जन्म है। महर्षि दयानन्द ने भी अपने वेद-भाष्य में इन दो मार्गों का यही अर्थ किया है। परन्तु मौलाना लिखते हैं—"इस मन्त्र के अर्थ में स्वामी दयानन्द ने बहुत गड़बड़ की है।" (पृ० ३५)

मौलाना! यदि मन्त्र के अर्थों पर विवाद करना था तो अर्थ-सम्बन्धी अपना मत देते। मन्त्रार्थ की चर्चा किये बिना ही अपना निर्णय दे दिया, यह कहाँ का न्याय है? यदि आप विद्वानों के समान चर्चा करते तो आपकी लेखनी से शब्द 'गड़बड़' न लिखा जाता। निश्चय ही आपका ऐसा लिखना शास्त्रीय चर्चा के अभिप्राय को सूचित नहीं करता।

प्रश्न – अथर्ववेद में जिस पहले मरनेवाले को 'यम' कहा गया है और जो जीवों को **"बरज़ख़"** में अपने साथ ले जाता है और जिसे शरीर छोड़नेवाले जीवों का राजा कहा गया है, जिसका निवास-स्थान स्वर्ग है और जिसे भेंट-उपहार आदि देने का आदेश दिया गया है, वे सारे मन्त्र हमने लिख दिये हैं। उन मन्त्रों को दृष्टि में रखकर बताओ कि यदि वह **'बरज़ख़'** के स्थान का वर्णन नहीं तो क्या है? और उसको भेंट देकर उससे आशीर्वाद की याचना नास्तिकता (शिर्क) नहीं तो क्या है?

हमारा निवेदन है कि 'यम' नाम परमेश्वर का है; तपस्वी का और उस व्यक्ति का भी है जो सर्वप्रथम अपना बलिदान दे। उसका निवास-स्थान अपना हृदय भी है और आपके व हमारे हृदय भी। उसकी भेंट अपना जीवन तक कर देना चाहिये। यह आस्तिकता है। आप इसे अपने मन्तव्य के अनुसार **'बरज़ख़'** का स्थान मानते रहें! हमारे लिए अपना हृदय ही अन्तरिक्ष है। ऐसे ईश्वर-अर्पित व्यक्ति के लिए कुछ समर्पण पूरी आस्तिकता है। हाँ, जो शैतान का पुजारी हो, उसकी सेवा निश्चय ही नास्तिकता (शिर्क) है। ऐसा (पूजा का) वर्णन यदि आपको कहीं वेद में मिला हो तो बतलाइए।

"जो सम्मानित, पवित्र लोग, तपस्या के जीवन में रहते हैं, उनका लोक, शुभ कर्मों का फल, यज्ञ और सम्मान, आत्मिक शक्तियों का रूप धारण करें।"[1] (यजुः० १६-४५)

---

१. ये समानाः समनसा पितरो यमराज्ये।
तेषां लोकः स्वधा नमो यज्ञो देवेषु कल्पताम्॥ (यजुः० १६-४५)

यम का अर्थ हमने 'यम-नियमों के पालन करनेवाले तपस्वी योगी' किया है। ऐसे लोगों का घर अन्तरिक्ष अर्थात् अपना हृदय होता है। वही तपस्या का स्थान है। जो पितर तपस्या के राज्य में रहते हैं, वे इस अन्तर्लोक के निवासी हैं। संसार से उनका कोई विशेष सम्बन्ध नहीं होता। निरुक्तकार ने भी यही माना है। परन्तु मौलाना को इस्लामी मन्तव्यानुसार 'बरज़ख़' का ध्यान आ गया और फिर उन्होंने वहाँ मृतकों के जीवों की कल्पना भी कर डाली। ध्यान रहे कि निरुक्त में पितरों को मरा हुआ नहीं माना गया। निरुक्त में तो कहा है—"मध्य के लोक में रहता है (वानप्रस्थ में), इसलिए यम-नियम का पालन करनेवाले पितरों को मध्यलोक में रहनेवाला कहते हैं।"[1] (नि० ११-१६)

(१) 'यम' का अर्थ संसार को नियम में रखनेवाला परमेश्वर भी है। उसको इसीलिए नियन्ता कहते हैं। कहा है—"मृत्यु उस नियन्ता ईश्वर का जैसे ज्ञानवान् सन्देशवाहक है। वह पितरों को प्राण देता है।" पितर अर्थात् ईश्वर-भक्त। उनको मृत्यु का कैसा भय? वे मृत्यु को ईश्वर का ज्ञानवान् सन्देशवाहक ही समझते हैं। मृत्यु का आगमन उनके लिए जीवनप्रद होता है। वेदमन्त्र में वाक्य है—"पितरों के लिए, अथवा पितरों को।" मौलाना का अनुवाद है "पितर बनने के लिए"। इस नवीन कल्पना से क्या अभीष्ट है? यहाँ यज्ञमय जीवनवाले व्यक्ति के लिए वेद ने पुनः कहा—"ज्ञान-ध्यान के उच्च स्थान से धरती के वासियों की ओर आते हुए, प्रजा को खोजकर मार्ग दिखानेवाले, प्रकाश के पुन्ज परमेश्वर के पुत्र, जनता की आशा, तप का साकार रूप, प्रकाशमय व्यक्तियों की हृदय से सेवा करो।"

(२) यम (तपस्वी) ने हमारे लिए मार्ग पहले तैयार किया है, यह मार्ग त्याज्य नहीं है। जिसपर हमारे पुरुरवा प्रथम चले, वे उत्पन्न हुए और अपने-अपने मार्ग पर चले।[2]

---

१. माध्यमिका यम इत्याहुः तस्मान्माध्यमिकान् पितॄन्मन्यन्ते। (नि० ११-१६)

२. यमो नो गातुं प्रथमो विवेद नैषा गव्यूतिरपभर्तवा उ।
यत्रा नः पूर्वे पितरः परेयुरेना जज्ञानाः पथ्या अनु स्वाः॥ (ऋ० १०-१४-२)

(१) ओ तपस्या की मूर्ति ! इस आसन पर पधारिये। विद्वानों को साथ लेकर आइये, आपको विद्वानों के निमंत्रण बुलाएँ। ओ हृदय-सम्राट्, हमारी सेवाओं से तृप्त हूजिये।[1]

(२) विद्वान् हमारे पूज्य हैं। नई-नई शिक्षा देनेवाले, स्थिरचित्त, तपस्वी, सन्तोष की प्रतिमा, हम इन माननीय महानुभावों की सुसम्मति तथा शुभाशीषयुक्त प्रेम के पात्र हों।[2]

(३) आगे बढ़, आगे बढ़, जिन मार्गों से हमारे पूर्व-पुरुष उन्नति कर चुके। तू (शुभकर्म के द्वारा) प्रकाश के पुञ्ज महानुभावों को आनन्दित होता देखे—एक तपस्वरूप यम को तथा अन्य प्रेमस्वरूप वरुण को (देखे)।[3]

(४) मान्य पुरुषों से मिल, तपस्वियों से मिल, श्रौत एवं स्मार्त्त कर्मों से उच्चावस्था में जा, बुराई को छोड़, अपने पुराने स्थान (उच्चावस्था) पर लौट आ, तेजस्वी होकर शरीर से युक्त रह।[4]

(५) जाओ, फैल जाओ, विभिन्न दिशाओं में चले जाओ, पितरों ने इस (मनुष्य) के लिए स्थान बना दिया है, जगत् का नियंत्रण करनेवाला परमेश्वर, इसे दिवसों, रश्मियों एवं जलों से प्रकाशयुक्त स्थान देता है।[5] (ऋ० १०-१४)

वह तपस्वी, जो संसार की सेवा में सर्वप्रथम अपना बलिदान देता है, **यम** कहलाता है। वह राजा है। जो लोग उसका अनुकरण करते हैं,

---

१. इमं यमं प्रस्तरमा हि सीदाङ्गिरोभिः पितृभिः संविदानः।
आ त्वा मन्त्राः कविशस्ता वहन्त्वेना राजन् हविषा मादयस्व ॥
(ऋ० १०-१४-४)

२. अङ्गिरसो नः पितरो नवग्वा अथर्वाणो भृगवः सोम्यासः।
तेषां वयं सुमतौ यज्ञियानामपि भद्रे सौमनसे स्याम ॥ (ऋ० १०-१४-६)

३. प्रेहि प्रेहि पथिभिः पूर्व्येभिर्यत्रा नः पूर्वे पितरः परेयुः।
उभा राजाना स्वधया मदन्ता यमं पश्यासि वरुणं च देवम् ॥ (ऋ० १०-१४-७)

४. सं गच्छस्व पितृभिः सं यमेनेष्टापूर्तेन परमे व्योमन्।
हित्वायावद्यं पुनरस्तमेहि सं गच्छस्व तन्वा सुवर्चाः ॥ (ऋ० १०-१४-८)

५. अपेत वीत वि च सर्पतातोऽस्मा एतं पितरो लोकमक्रन्।
अहोभिरद्भिरक्तुभिर्व्यक्तं यमो ददात्यवसानमस्मै ॥ (ऋ० १०-१४-९)

पितर कहलाते हैं। तपस्या तथा प्रेम के मार्ग भिन्न-भिन्न हैं, परन्तु लक्ष्य सबका एक ही है। यही विश्व, जिसमें जल एवं रश्मि की क्रीड़ा हो रही है, प्रकाश का घर है। परमेश्वर ने यह घर धनी, दरिद्र, सबके लिए समान रूप से सजाया है। यही वास्तविक धन है। इससे लाभान्वित होकर नाना प्रकार से जन-सेवा करना मानव-जीवन का सबसे बड़ा लक्ष्य है। वेद का आदेश है—

> "सूर्य की तीन सूक्ष्म शक्तियाँ हैं। दो (उष्णता तथा प्रकाश) तो प्रकट हैं और एक (विद्युत्) अव्यक्तावस्था में है। वह दूसरी शक्तियों को दबा लेती है। अनश्वरता का आधार छोटी-छोटी बातों पर है, जैसे रथ का पहिये के कील पर। इस विषय में वह व्यक्ति बात करे, जिसे ज्ञान हो।"[1] (ऋ० १-३५-६)

यहाँ उष्णता, प्रकाश तथा विद्युत् को द्यौः कहा गया है।

मौलाना का प्रश्न है—"बरज़ख के स्थानविशेष से आर्यसमाज इन्कार क्यों करता है, जबकि वेदों की स्पष्ट आज्ञा पृष्ठ ४६,४७ पर तथा साधारण हिन्दुओं का मन्तव्य भी इसका अनुमोदन करता है? वे कौनसे वेद-मन्त्र हैं कि जिन्होंने स्वामी दयानन्द जी को विवश किया कि वे इस मन्तव्य को सत्यार्थ (प्रकाश) के प्रथम संस्करण में मानकर फिर इससे इन्कार कर दें?"

—मौलाना! आपके दिये प्रमाणों की तो व्याख्या ऊपर कर दी गई है। रहा साधारण हिन्दुओं का मन्तव्य, वह आपके अपने विचार में 'विरोधी मन्तव्यों की खिचड़ी है' तो क्या आप हिन्दुओं के परस्पर-विरोधी मन्तव्यों को भी आर्यसमाज के सिर थोपने का विचार रखते हैं? श्रीमन्! चर्चा तो वेद पर आधारित है, न कि हिन्दुओं के मन्तव्यों पर।

सत्यार्थप्रकाश (पुस्तक का पूरा नाम लिखने में आपको कोई हानि तो नहीं है) के प्रथम संस्करण की ओर आपका बार-बार संकेत होता है। ध्यान रहे कि ऋषि ने अपने जीवन-काल में ही उसे अप्रमाणित कह दिया था, क्योंकि उसमें लेखकों एवं मुद्रकों द्वारा सम्मिलित 'प्रक्षिप्त-भाग', पुस्तक का भाग बन गया था, फिर भी आपने उसका भी तो कोई प्रमाण नहीं दिया? प्रमाण-रहित आपके कथन पर ध्यान कैसे दिया

---

१. तिस्रो द्यावः सवितुर्द्वा उपस्थां, एका यमस्य भुवने विराषाट्।
आणिं न रथ्यममृताधि तस्थुरिह ब्रवीतु य उ तच्चिकेतत्॥ (ऋ० १-३५-६)

जावे ? और फिर उस पुस्तक का, जिसका प्रमाण आर्यसमाज स्वीकार नहीं करता, उसका प्रमाण हो भी, तो क्या मूल्य रखता है ?

प्रश्न—पितर शब्द के जो अर्थ हमने कोश द्वारा पृष्ठ २७, २८ पर लिखे हैं (जो मृत व्यक्तियों की आत्मा होता है), उसके विरुद्ध आपके पास क्या प्रमाण है ? अथवा वे प्रमाण दें जिनसे पितर का अर्थ जीवित माता-पिता, दादा-दादी बनाते हैं और श्राद्ध तथा पितृतर्पणा से अभिप्राय जीवित बाप-दादा की सेवा से हो ।

—कोश से सम्भवतः आपका अभिप्राय निरुक्त से है। उसका प्रमाण जो पृष्ठ २८ पर लिखा है, उसमें तो मृत्यु की बात भी नहीं आई। शेष रहा जीवित माता-पिता के अर्थ में पितर शब्द का प्रयोग और इसका प्रमाण, सो हमारे विचार में यह प्रमाण माँगना ऐसा ही है जैसे उर्दू में प्रयुक्त शब्द बाप-दादा का अर्थ जीवित बाप-दादा करने के लिए कोश का प्रमाण माँगना । वेद में जिन पितरों का वर्णन है, उसमें वर्णित उनकी सेवा का प्रकार ही उन्हें जीवित सिद्ध करता है। वेद में आदेश है कि 'पितरों को नम्रतापूर्वक बिठाओ, उन्हें खिलाओ, पिलाओ।'[1] यह सब जीवित पितरों के साथ ही तो सम्भव है ? भला मृत को कैसे खिलाएँगे ? प्रचलित प्रकार ब्राह्मण को खिलाने का है, परन्तु हमने जितने वेद-मन्त्रों का प्रमाण दिया है (आपने भी दिया है) उनमें कहीं भी तो यह नहीं कहा कि पितरों को स्थानापन्नों के द्वारा खिलाओ। जब स्थानापन्नों का वर्णन ही नहीं, तो व्यर्थ में उन्हें वेद में वर्णित कैसे मान लिया जावे ? वेद में स्थानापन्नों द्वारा पितरों को खिलाने का वर्णन यदि आप दिखा सकें, तो आपकी बात सप्रमाण हो सकेगी। यहाँ तो पितरों को आसनों पर बिठाने, उनके सम्मुख घुटने टेककर (नम्रता से) बैठने, उनसे उपदेश लेने का स्पष्ट वर्णन है, फिर इन पितरों को मरा हुआ कैसे मान लिया जावे ? हिन्दु घरों में बाप को पिता कहा जाता है, और पितरः पिता का बहुवचन ही है जिसका अर्थ है बाप-दादा। दूसरे वृद्ध महानुभावों को भी इन शब्दों से बुलाने की परम्परा है। संस्कृत में इस (पितरः) शब्द का प्रयोग उपर्युक्त अर्थों में प्रायः होता है; फिर भी हमने मनु का प्रमाण ऊपर दे दिया है, क्योंकि हम

---

१. ये निखाता ये परोप्ता ये दग्धा। (अथर्व० १८-२-३४)

एक ऐसे मौलाना से बात करने लगे हैं, जिसे यह बताने की भी आवश्यकता है कि बाप का अर्थ ज़िन्दा बाप ही होता है।

मौलाना ने कुछ और प्रश्न भी किये हैं, यथा—क्या शतपथ ब्राह्मण तथा मनु के आदेशानुसार इस धरती पर रहनेवाले जीवित पितरों को आर्यसमाज प्रतिमास के पश्चात् चन्द्र-दर्शन होने पर खाना खिलाता है? यदि पितर का अभिप्राय जीवित माता-पिता ही से है, तो उनका दिन २४ घण्टे के स्थान पर तीस दिनों का कैसे होता है? वृहदारण्यका (मौलाना ने इसी प्रकार लिखा है) उपनिषद् में कहा है कि मनुष्यों के सौ सुखों के समान पितरों का एक सुख होता है, क्या इससे यह सिद्ध नहीं होता कि पितर इस संसार के मनुष्यों से भिन्न होते हैं?

उत्तर—पितरों की दैनिक सेवा का आदेश हमने मनु के प्रमाण से ऊपर दिया है। मासिक निमंत्रण विशेष सम्मान का द्योतक है। एक मास को पितरों का एक दिन कहना ज्योतिष-विद्या की परिभाषा में है, जैसे सृष्टि की आयु को ब्रह्मा का दिन कहा जाता है। यह भी ठीक है कि जन-साधारण के सौ सुखों के समान तपस्वी महानुभावों का एक आध्यात्मिक सुख होता है। इस अवस्था में जो जीवित है, उनका मरा हुआ होना कैसे स्पष्ट हो गया?

प्रश्न—पृष्ठ ३२ पर दिये मन्त्र से स्पष्ट सिद्ध होता है कि पितर मृतकों की आतमा का नाम होता है जो मरने, जलाए जाने, गाड़े जाने आदि के पश्चात् बनते हैं।

उत्तर—इस मन्त्र में 'वह' धातु प्रयुक्त हुआ है (ये निखाता) इसके कर्म दो बनते हैं—एक कर्म पितर बनता है, दूसरा जलाई हुई, न जलाई हुई, दबाई हुई और खोदी हुई खाने की वस्तुएँ। वेद में खाने की इन वस्तुओं को लाने की आज्ञा है। आपने भ्रम से दो भिन्न-भिन्न कर्मों को विशेषण-विशेष्य कल्पित कर लिया। मौलाना! यहाँ भी मरे हुए पितरों का वर्णन नहीं, क्योंकि पितर तो जीवित ही होते हैं।[1]

---

१. पितर जीवित ही होते हैं, इसका स्पष्ट प्रमाण गीता में भी मिलता है—
तत्रापश्यत् स्थितान् पार्थः पितॄनथ पितामहान् (गीता १-२६) तथा **आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः** (गीता १-३४), अर्जुन ने युद्ध-क्षेत्र में लड़ने को समुद्यत पितरों को देखा। स्पष्ट है कि पितर शब्द का प्रयोग यहाँ जीवित पितरों से ही है। (शरर)

प्रश्न—मनु का श्लोक हमने पृष्ठ ३२-३४ पर लिखा है; उससे पितर, पितृश्राद्ध तथा तर्पण की स्पष्ट आज्ञा है। यदि आप मनु के इन श्लोकों का प्रमाण स्वीकार करते हैं तो उत्तर दें।

उत्तर—इस प्रश्न का उत्तर आपके द्वारा लिखा शब्द 'यदि' में ही आ गया है। हमारे लिए मनु के ये श्लोक प्रक्षिप्त हैं, अतः और उत्तर देने की आवश्यकता ही नहीं। हम इन्हें प्रमाण नहीं मानते।

प्रश्न—यदि आप इन श्लोकों को प्रक्षिप्त मानते हैं तो बताएँ कि यह प्रक्षेप किसने, कब तथा क्यों किया? और क्या तब मनुस्मृति का एक ही नुस्खा मिलता था जिसमें प्रक्षेप किया गया?

उत्तर—आर्यसमाज केवल वेद को ही स्वतःप्रमाण मानता है। दूसरी पुस्तकें वेदानुकूल होने पर हमारे लिए प्रमाण होंगी। मनुस्मृति के इस भाग को आप वेदानुकूल सिद्ध कर दें, तब इसके उत्तर के लिए आर्यसमाज से प्रश्न कीजिये।

*

स्वर्ग

इस लम्बे विवाद के पश्चात् मौलाना मूल विषय पर आये हैं। आप लिखते हैं—"स्वर्ग 'लोक' (Locative case) के रूप में प्रयुक्त हुआ है जो एक स्थानविशेष की ओर संकेत करता है।" (पृष्ठ ४८)

—लगता है शीघ्रता के कारण वाक्य अस्तव्यस्त हो गया है, फिर भी मौलाना का अभिप्राय है कि वेद में 'स्वर्गलोक' ऐसा कहा गया है, अतः यह कोई स्थानविशेष है। परन्तु हमें पूछना है कि यदि कोई कहे शिशुलोक में, तो क्या अभिप्राय यही होगा कि शिशुओं का कोई स्थान-विशेष है ? कोई कहे सुखलोक, तो क्या सुख का स्थानविशेष अभीष्ट होगा ? 'लोक' शब्द के अर्थ मौलाना, यही लेते हैं।

किसी कोश से मौलाना ने कुछ संयुक्त शब्द भी लेकर लिखे हैं, जैसे --स्वर्गगमन, स्वर्गारोहण, स्वर्गवासी, स्वर्गगत, स्वर्ग में चढ़े हुए, स्वर्ग प्राप्त करनेवाले, स्वर्ग में रहनेवाले, ये सब मरे हुए को कहते हैं— स्वर्गवन्धु, स्वर्गीय बंधु, स्वर्ग की स्त्रियाँ 'हूरों' (अप्सराओं) को कहते हैं, स्वर्गपति, स्वर्गलोकेश, स्वर्ग का स्वामी, ये इन्द्र देवता के नाम हैं। 'स्वर्गद्वार' स्वर्ग के दरवाज़े को कहते हैं। 'स्वर्गपरा' स्वर्ग की इच्छा रखनेवाले को कहते हैं (पृष्ठ ४९-५०)।

उत्तर—गति का अर्थ है जाना, परन्तु परिभाषा में उसका अर्थ अवस्था होता है। उर्दू का शब्द 'गत' संस्कृत के गति शब्द का अपभ्रंश है। संस्कृत भाषा में यह लोकोक्ति है कि उसमें किसी अवस्था की प्राप्ति को उस अवस्था में जाना लिखा जाता है। यदि यह कहना हो कि 'सुख पाया', तो 'सुख को गया' ऐसा कहेंगे। यही बात चढ़ने के प्रयोग में समझनी चाहिए। गीता में लिखा है 'योगारूढ़', शब्दार्थ होगा—'योग पर चढ़ा हुआ' और मौलाना शायद योग को भी अपने मन्तव्य का कोई स्थान-विशेष अथवा किसी वृक्ष की चोटी मान लेंगे। परन्तु संयुक्त शब्द योगारूढ़ का अर्थ है—पूर्ण योगी। इसी प्रकार 'स्वर्ग' शब्द का भी

अर्थ है 'सुख पाना'; अधिकरण में कहें तो जहाँ सुख प्राप्त हो सके, जिस अवस्था में सुख मिले, उसे स्वर्ग ही कहेंगे। स्वर्गबंधु, किसी सुखी गृहस्थ की पत्नी को कहा जा सकता है, स्वर्गपति सुखी गृहस्थ को कहते हैं। इन्द्र भी उसी का नाम है। स्वर्गद्वार 'सुख का दरवाज़ा' है। उर्दू भाषा में भी 'सुख का दरवाज़ा खुल गया' ऐसा कहने की परम्परा है। क्या ऐसा कहने पर यहाँ सुख का अर्थ कोई कमरा अथवा मकान होगा ?

कोश से निवृत्त होकर मौलाना का ध्यान निरुक्त पर गया है। निरुक्त में स्वर्ग के पर्याय नाक, द्यौ, सुकृतस्य-लोक दिये हैं। नाक का अर्थ निरुक्तकार ने किया है "उस लोक में पहुँचनेवाले को कुछ भी दुःख नहीं होता।"[1] (नि० २-१४) मौलाना ने 'लोक' शब्द के स्थान पर 'स्थान' का प्रयोग किया है। निरुक्त में शब्द आया है 'लोक', मौलाना इसका अर्थ 'अवस्था' पहले स्वीकार कर चुके हैं, अतः इसपर विवाद व्यर्थ है। फिर लिखते हैं—"द्यौ शब्द का अर्थ भी सुख है। निरुक्त में लिखा है—'द्यौ सुख का नाम है'।"[2] (पृष्ठ ५१)

हमारा निवेदन है कि मौलाना ने यह प्रमाण किस अभिप्राय से दिया ? यहाँ तो 'द्यौ' स्पष्ट 'सुख' को कहा गया है। यहाँ स्थान-विशेष का तो वर्णन ही नहीं। क्या सुख भी आपके विचार में कोई स्थान-विशेष है ? अथवा अवस्था-विशेष ? श्रीमन् ! यहाँ तो निरुक्त आपका साथ नहीं देता। 'सुकृत' का अर्थ है पवित्र कर्म, सु अर्थात् अच्छा, सुखद, कृत अर्थात् बनाया गया। मौलाना ! यहाँ सुकृत का अर्थ है पुण्य कार्य, सवाब (उर्दू); पुण्य के आलम को, लोक को 'सुकृतस्य लोक' कहते हैं। निरुक्त का निम्नलिखित कथन है तो सत्य, परन्तु आपके किस काम का है ? लिखा है, "जो पुण्य-कार्य करनेवाले लोग हैं, वे ही वहाँ जाते हैं।"[3] यहाँ सम्भवतः शब्द 'जाते हैं' से आपने अनुमान लगाया होगा कि यह कोई स्थान-विशेष है। परन्तु निरुक्त ने तो कहा है कि 'द्यौ' सुख का नाम है, अतः जो पुण्यकर्म करते हैं, वे उस सुख में जाते हैं, उन्हें

---

१. न वा अमुं लोकं जग्मुषे किं च नाकं न वा अमुं लोकं गतवते किंचनासुखम्। (नि० २-१४)

२. अथ द्यौ किमिति सुखनाम। (नि० २-१४)

३. पुण्यकृतो ह्येव तत्र गच्छन्ति। (नि० २-१४)

आनन्द अनुभव होता है। स्वर्ग सुख का स्थान भी हो सकता है, परन्तु सुख की अवस्था, अवसर, इत्यादि सब अर्थ इसके विस्तृत अर्थों में आ जाते हैं। निरुक्त के पश्चात् मौलाना ने मनु तथा वेद के कुछ प्रमाण दिये हैं। वे ये हैं—स्वर्ग को जाता है, स्वर्ग से गिर जाता है, ऊपर उच्च स्थान को जाता है, अक्षय स्वर्ग की इच्छा करता हुआ अनश्वर लोक को जाता है (मनु) और हम बहिश्त में (वेद के शब्दों में मोक्षावस्था में) जाएँ, तुझे ऊपर बहिश्त में (वेद के शब्दों में मोक्षावस्था में) ले जायेगा, तुम उच्च स्थान पर, ऊँचे स्वर्ग में इसको जानो। इस बहिश्त (वेद के शब्दों में पुण्यलोक) में जायें। इसको बहिश्त पर चढा (वेद के शब्दों में सुखलोक पर चढ़ा)।

ये प्रमाण अथर्ववेद के हैं। इनमें 'सुकृतस्य लोक', 'परम द्यौ' और 'नाक' शब्दों का प्रयोग हुआ है। इन शब्दों के वास्तविक अर्थ हम लिख चुके हैं। मौलाना ने इससे यह परिणाम निकाला है "स्वर्ग एक स्थान-विशेष है।" मौलाना 'जाने' और 'चढ़ने' शब्दों से भ्रम में पड़ गये। संस्कृत में इन क्रियाओं की कर्म तथा अधिकरण-अवस्था भी बनती हैं, जिनके उदाहरण हम दे चुके हैं। पृष्ठ ५३ पर मौलाना एक नया तर्क उपस्थित करते हैं—"दुःख से सर्वथा रहित जीवन का भी वर्णन है।"

स्वर्ग या नाक 'मुक्ति' को भी कहते हैं और वह ऐसी ही अवस्था है। परन्तु स्वर्ग का अर्थ केवल मुक्ति नहीं। वैसे भी सुख अपने-आप में दुःख से रहित ही होता है। दुःख से रहित अवस्था जब तक रहे वह स्वर्ग होगी, द्यौ होगी, नाक होगी। ये सब शब्द पर्यायवाची हैं। मौलाना फिर पूछते हैं—"स्वर्ग-प्राप्ति मृत्यु के पश्चात् होगी, साधारण बोल-चाल में भी स्वर्गवासी मरे हुए व्यक्ति के लिए प्रयुक्त होता है।"

मौलाना ! आप चर्चा तो कर रहे हैं वेद की, और आ गये साधारण बोलचाल पर ! हाँ, आप वेद का कोई प्रमाण देने के पश्चात्, उसके अनुमोदन में साधारण बोलचाल की बात भी लिख देते, तो विशेष बात न थी, परन्तु आपने तो वेद से सर्वथा दूर रहकर केवल साधारण बोल-चाल की एक उक्ति पर ही अपने इतने बड़े दावे की बुनियाद रख दी ! और यह उक्ति भी ऐसी ही है जैसे अरबी भाषा में मरे हुए व्यक्ति को मरहूम कह देते हैं। क्या जीते-जी पर ईश्वर का रहम (दया) नहीं होता ? यह केवल पारिभाषिक प्रयोगों की बात है। मरकर जीवन

अपने कर्मानुसार सुख अथवा दुःख को भोगता है, परन्तु हम उसे स्वर्गवासी अथवा मरहूम ही कहेंगे।

प्रश्न—स्वर्ग इस संसार (कर्मक्षेत्र) से भिन्न दूसरे स्थान पर है, क्योंकि उसमें पुण्यात्माओं को केवल सुख ही दिया जाया है। वहाँ कर्म अथवा दुःखों का सर्वथा अभाव है।

उत्तर—इस कथन का कोई प्रमाण ? आपने स्वयं स्वर्ग का पर्यायवाची 'सुकृतस्य लोक' को माना है, जिसका अर्थ है पुण्य कर्म करनेवालों का लोक' (यहाँ तो कर्म साथ हैं); यह बात तो स्वयं आपके मन्तव्य के विरुद्ध जाती है (कर्महीन लोक नहीं)। विरोध को अनुकूलता समझना भी विचित्र भोलापन है !

प्रश्न—स्वर्ग (बहिश्त) की चर्चा जो पृष्ठ ४८-५८ तक हमने की है, उसको दृष्टि में रखते हुए बताएँ कि यह शब्द किसी क्रिया अथवा अवस्था का नाम है या किसी स्थान-विशेष का ?

उत्तर—श्रीमन् ! यह अवस्था-विशेष का नाम है; स्वयं आपने भी निरुक्त के प्रमाण से यही माना है। 'द्यौ' सुख का नाम है और द्यौ 'स्वर्ग' का पर्यायवाची है। अब तक जो आपने द्यौ का अर्थ अन्तरिक्ष अथवा किसी-किसी स्थान पर रिक्तस्थान किया, सम्भवतः यह सोचा

---

१. पुण्यकृतो ह्येव तत्र गच्छन्ति। (नि० २-१४)
इस प्रमाण के साथ मौलाना ने लिखा है (अर्थात् वहाँ नहीं पहुँच सकता) इस भय के साथ कि मनु के कथनानुसार स्वर्ग में रहना सीमित न हो जाये। भला जिस स्वर्ग से गिरना हो, वह नित्य कैसे हुआ ? इसी विचार से आपने "नित्य स्वर्ग की कामना करता हुआ" भी लिख दिया। इस प्रमाण में न कर्म है और न अधिकरण, न जाना है और न चढ़ना। विषय से असम्बद्ध बात क्यों कहनी थी ? मोक्ष अवधि-सहित है या अवधि-रहित, यह एक अलग विषय है। विषयान्तर पर यहाँ विचार नहीं करेंगे। 'अक्षय स्वर्ग' जिसका अर्थ आप 'नित्य स्वर्ग' करते हैं, जीवन के उस सुख को भी कहते हैं जो जब तक रहे, उस सुख में कमी न आये। कोई गृहस्थ निरन्तर सुख का जीवन व्यतीत कर रहा है तो कहा जाता है कि यह अक्षय स्वर्ग भोग रहा है। बड़े खज़ाने (निधि) को 'अक्षय निधि' कहा जाता है। मनु के इस प्रकार के वचनों को उद्धृत करने से ज्ञात होता है कि आपको वेद में मुक्ति की अनन्तता का कोई वर्णन नहीं मिला।

होगा कि सुख इन्हीं दो स्थानों पर होता है। पृथिवी को तो आपने इससे जुदा कर्मक्षेत्र माना है। क्या इसका अभिप्राय यह है कि पृथिवी पर सुख होता ही नहीं ? वस्तुतः आपने निरुक्त के कथन से जानबूझकर आँख मूँद ली, नहीं तो इतना लम्बा विवाद करने का आपको कष्ट न उठाना पड़ता।

*

पकी हुई ककड़ी

प्राकृतिक आयु — मृत्यु के कई रूप — यस्यच्छायामृतम्

श्री मौलाना का विचार है—"मृत्यु वैदिक ऋषियों के लिए भयंकर वस्तु थी। मृत्यु से बचने के लिए वे प्रायः प्रार्थनाएँ करते रहते थे।"
(पृष्ठ १०)

श्री मौलाना ! यदि सर्वप्रथम वेदों में वर्णित मृत्यु की कल्पना अपने नेत्रों के सम्मुख करें तो वेद की प्रार्थनाओं और उपदेशों का अभिप्राय आप भली प्रकार से समझ जायेंगे। आत्मा शरीर से यदि स्वाभाविक रूप से अलग हो तो वेद इसको बुरा नहीं मानता। शरीर परमाणुओं के मेल का परिणाम है, इसका कुछ काल वृद्धि का होता है। इसके पश्चात् वह समय आता है जब इसका ह्रास प्रारम्भ हो जाता है। समय पाकर यह परमाणुओं से निर्मित शरीर क्षीण हो जाता है; अन्ततोगत्वा आत्मा के काम का नहीं रहता। वेद की दृष्टि में मनुष्य की स्वाभाविक आयु सौ वर्ष की है। वेद का अनुयायी साधारण रूप में इतनी आयु तो पाना ही चाहता है। यदि हो सके तो वह इससे अधिक आयु पाने का प्रयास भी करेगा। यह प्रयास व्यक्ति की ओर से होता है, एवं समाज की ओर से भी होता है। आज भी समस्त सभ्य देश अपने देशवासियों की ऐवरेज एज (औसत आयु) बढ़ाने में प्रयत्नशील हैं। सरकार इस प्रकार के साधनों का प्रयोग करती है जिनके द्वारा देशवासी दीर्घायु प्राप्त कर सकें। सफ़ाई, हस्पतालों, रोगों के रोकने का प्रयास, स्वास्थ्य के साधनों की जानकारी कराना इत्यादि सब इसीलिए है। वेद-भक्त इस प्रेरणा को निम्न मन्त्र में पाता है जो उसकी दैनिक संध्या का मन्त्र है—

"हम सौ वर्ष तक जीवित रहें, सौ वर्ष तक सुन सकें, सौ वर्ष तक बोल पायें, सौ वर्ष पूर्ण स्वस्थ होकर स्वतन्त्र तथा स्वावलम्बी

रहें। केवल सौ वर्ष ही नहीं, इससे भी अधिक काल तक जीवित रहें।"[1]

इस मन्त्र में प्रत्येक स्थान पर बहुवचन का प्रयोग इस तथ्य का प्रमाण है कि यह प्रार्थना किसी व्यक्ति की केवल अपने लिए नहीं, अपितु समस्त समाज के लिए है। वह समाज कोई विशेष समाज भी हो सकता है और मानव-समाज भी। प्रार्थना का विषय जहाँ दीर्घायु की प्राप्ति है, वहाँ अपनी आयु में अंग-प्रत्यंग का स्वस्थ होना, सशक्त होना, स्वतन्त्रता तथा स्वावलम्बन की भावना भी अभीष्ट है। कितनी स्वाभाविक तथा आनन्दप्रद प्रार्थना है ! इस दीर्घायु-प्राप्ति का साधन भी वेद में बताया है—

"ब्रह्मचर्य तथा तपस्या से देवताओं ने मृत्यु को विजय किया है।"[2]

यदि मनुष्य विलासिता का शिकार न हो, अपनी इन्द्रियों पर अधिकार पा ले, तो रोग उसके समीप नहीं आ सकते, शरीर शीघ्र दुर्बल नहीं होता और वह मृत्यु को जीत लेता है। भला मौत पर विजय पाने का विचार क्या मृत्यु से भय खाने का परिणाम है ? जिसने मृत्यु को युद्ध के लिए चुनौती दी है, क्या वह उससे भय खाकर भाग जाएगा ? किसी धर्म-युद्ध में मृत्यु तो वेदानुयायी को सर्वथा प्रिय है। कहा है—

"जो वीर युद्ध-क्षेत्र में जान हथेली पर रखकर लड़ते हैं, अथवा जो सहस्रों (रुपयों) का दान दे डालते हैं, उनमें मेरी भी गणना हो।"[3]

इस प्रार्थना को पढ़ने के पश्चात् भी यदि कोई वैदिक ऋषियों को मृत्यु से भयभीत कहें तो वह यदि और कुछ नहीं, तो वाक्वीर और कल्पनाशूर तो अवश्य है।

---

१. जीवेम शरदः शतम्, शृणुयाम शरदः शतम्, प्रब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतम्, भूयश्च शरदः शतात्। (यजु:० ३६-२४)

२. ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत। (अथर्व० ११-५-१९)

३. ये युध्यन्ते प्रधनेषु शूरासो ये तनूत्यजः।
ये वा सहस्रदक्षिणास्तांश्चिदेवापि गच्छतात्॥ (अथर्व० १८-२-१७)

प्रश्न होता है कि वेदानुयायी को किस प्रकार की मृत्यु से भय खाना सिखाया गया है ? उत्तर है—एक तो असमय की मृत्यु से, छोटी आयु की मृत्यु से; दूसरी नैतिक, बौद्धिक तथा आत्मिक मृत्यु से। और समय से पूर्व मरने से बचने के लिए कुछ साधन तो मौलाना के दिये प्रमाणों से भी मिल जाते हैं—

> "ओ मृत्यो ! दूर हो जा। उस मार्ग पर जा जो तेरा अपना है। देवों के मार्ग से वह मार्ग दूर है। तुझसे मैं इस प्रकार बात करता हूँ जैसे किसी देख रहे से तथा सुन रहे से। तू हमारे बच्चों को न मार ! तू हमारे वीरों को न मार !"[१]

मृत्यु का मार्ग तत्त्वज्ञान तथा अध्यात्म के मार्ग से दूर है, अर्थात् वह उन्हें कष्ट नहीं देती। बच्चों को मृत्यु न आये, यह सावधानी माता-पिता को करनी चाहिये। वीरों की तो मृत्यु होती ही नहीं। इस मन्त्र में ध्यातव्य यह है कि मन्त्र पढ़नेवाला स्वयं मृत्यु से बात करता है। मानसिक दृढ़ता का यह सफल उपाय है। वंह समझता है कि मृत्यु उसकी भर्त्सना को सुनती है, उसके दृढ़ निश्चय को समझती है, और अन्त में उसकी आत्मिक शक्ति से पराजित हो जाती है। कथन का प्रकार काव्यमय है, परन्तु इसके प्रभाव को मनोविज्ञान के वेत्ता भली प्रकार जानते हैं। क्या यह मृत्यु की भर्त्सना, मृत्यु से भय की द्योतक है ? ऋ० १०-४८-५ का प्रमाण मौलाना ने जाने क्या सोचकर दिया ? ईश्वर कहता है—

> "मैं इन्द्र (सब ऐश्वर्यों का स्वामी हूँ) कभी पराजित नहीं होता। मेरे ऐश्वर्य को कोई छीन नहीं सकता। मैं मृत्यु से कभी पराजित नहीं होता। ओ भक्तिरस में आनन्द लेनेवालो ! मुझसे ऐश्वर्य माँगो। मेरी मित्रता में कमी न आने दो !"[२]

---

१. परं मृत्यो अनु परेहि पन्थां यस्ते स्व इतरो देवयानात्।
चक्षुष्मते शृण्वते ते ब्रवीमि मा नः प्रजां रीरिषो मोत वीरान्॥
(ऋ० १०-१८-१)

२. अहमिन्द्रो न परा जिग्य इद्धनं न मृत्यवेऽव तस्थे कदा चन।
सोममिन्मा सुन्वन्तो याचता वसु न मे पूरवः सख्ये रिषाथन॥
(ऋ० १०-४८-५)

वेद के इन मन्त्रों पर मौलाना का आक्षेप यह है—

प्रश्न—वेद-मन्त्रों में सौ वर्ष की आयु की प्राप्ति के लिए ऋषियों ने जो इतनी प्रार्थनाएँ की हैं, क्या इससे यह प्रतीत नहीं होता कि (१) वेद सृष्टि के आरम्भकाल का पुस्तक नहीं? क्योंकि मनुस्मृति आदि के प्रमाणों से ज्ञात होता है कि उनकी आयु सतयुग (सृष्टि के प्रथम दौर में) चार सौ वर्ष की होती थी। जिन्हें चार सौ वर्ष की आयु प्राप्त थी, उन्होंने सौ वर्ष की आयु के लिए प्रार्थना क्यों की?

उत्तर—कृपया मनु के श्लोक तथा प्रमाणों से बताइये कि मनुष्य की चार सौ वर्ष की आयु थी, और उसके अनुमोदन में वेद का प्रमाण दीजिये, तब आपके प्रश्न पर विचार किया जा सकता है। आप यह तो जानते ही हैं कि मनु ने वेद को सृष्टि के आरम्भकाल की पुस्तक माना है—

"आरम्भ सृष्टि में ईश्वर ने वेद के शब्दों से सब वस्तुओं के अलग-अलग नाम, काम तथा अनुशासन स्थिर किये।"[1] इसी तथ्य को क़ुर्आन ने भी कहा है—'सिखलाए आदम को सब नाम'। मौलाना के आक्षेप का दूसरा भाग है—"क्या इन प्रार्थनाओं से ऋषियों का संसार से मोह नहीं सिद्ध होता? वे ईश्वर से मिलने की अपेक्षा संसार से मिला रहना अधिक प्रिय जानते हैं। यदि यह कहा जाये कि वे शुभ कर्मों के करने के लिए दीर्घायु के इच्छुक थे, तो क्या सौ वर्ष से कम अथवा अधिक में मोक्ष-प्राप्ति के लिए उपयुक्त तथा पर्याप्त शुभकर्म नहीं हो सकते थे? यदि नहीं हो सकते थे, तो स्वामी दयानन्द जी का मोक्ष तो निश्चित रूप से नहीं हुआ होगा। उन्होंने तो आधी आयु के लगभग आयु पाई थी?"

उत्तर—आपके प्रश्न से पता चलता है कि आप मोक्ष तथा मृत्यु को एक अथवा अन्योऽन्याश्रय रूप से मानते हैं। हमारे धर्म में ईश्वर का मिलाप जीवन में ही, सम्भव है। इसके लिए कर्मों के काल की कोई अवधि निश्चित नहीं। केवल हृदय की पवित्रता तथा प्रबल इच्छा की आवश्यकता है। हृदय में अभीष्ट-प्राप्ति की उत्कट कामना हो तो

---

१. सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक्-पृथक्।
वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे॥ (मनु० १-२१)

ईश्वर के दर्शन भी हो जाते हैं और मोक्ष-प्राप्ति भी। इसके पश्चात् भी मनुष्य जीवित रहता है। पिछले जन्मों के कर्मानुसार उसपर सुख-दुःख भी आते हैं, परन्तु वह उनसे प्रभावित नहीं होता। वह स्वयं को पूर्णतया ईश्वरार्पित कर देता है और जनसेवा के कार्य में रत हो जाता है। जब तक शरीर है, स्वास्थ्य का पूरा ध्यान रखता है, और यही दीर्घायु-प्राप्ति की कामना अथवा प्रयास है, यह प्रयास प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य है। हाँ, यदि पूर्व-कर्मानुसार शरीर अपनी प्राकृतिक आयु से पूर्व क्षीण हो जाये अथवा कोई घटनाविशेष हो जाये जिससे जीवनतन्तु टूट जाये, तो वह ईश्वरेच्छा जानकर शरीर को त्याग देता है और प्रसन्नतापूर्वक नित्यलोक (जिसमें वह आत्मिक रूप से पहले ही प्रविष्ट हो चुका है) आनन्द लेता है। इसी का नाम मृत्यु पर विजय पाना है। जीवन पुण्यकर्मों के करने का सुअवसर है। इसका प्रयोग इस कार्य के लिए करते रहें, तो यही समर्पण का मार्ग है। मोक्ष-प्राप्ति के पूर्व भी पुण्यकार्य करने चाहियें और उसके पश्चात् भी। अथर्ववेद (८-८-१) में कहा है—

> "मथ डालनेवाला परमेश्वर जो शक्तिमान् है, वीर है, तमाम स्थानों को छेदकर उनके भीतर घुसा हुआ है। वह मन्थन करे जिससे हम अनेक प्रकार के पापियों की सेवा को समाप्त करें।"[1]

यहाँ पापियों, अमित्रों से कोई शत्रु-विशेष अभीष्ट नहीं, अपितु उनसे अभिप्राय है जो स्वभावतः शत्रुता करते हैं। फ़ारसी भाषा में कहा है, "बिच्छू किसी शत्रुता से डंक नहीं मारता, यह तो उसका स्वभाव है।"[2]

परमेश्वर की चक्की पीसती है और अत्यन्त बारीक पीसती है। वेदानुयायी ईश्वर की प्रजा के शत्रुओं के विरुद्ध जब युद्ध का निश्चय करता है, तो वह स्वयं ईश्वर की इस चक्की का पाट ही बनता है; यह इस प्रार्थना की विशेषता है। यहाँ शत्रु 'बुरी भावनाएँ' भी हो सकती हैं और उन्हें समाप्त करना तो हर वेदानुयायी का कर्त्तव्य है। भक्त ईश्वर का नाम ले और दुर्भावनाओं को हर प्रकार से मिटाने का प्रयास

---

१. इन्द्रो मन्थतु मन्थिता शक्रः शूरः पुरन्दरः।
यथा हनाम सेना अमित्राणां सहस्रशः॥ (अथर्व० ८-८-१)

२. नेशे अकरब न अज़ पये कीनस्त, मुक़तजारा तबीयतश ईनस्त।

करे। ऐसे लोगों तथा ऐसी भावनाओं के सम्बन्ध में आगे चलकर कहा है—

"मैं उन्हें मृत्यु के अर्पण करता हूँ। मृत्यु के बन्धन में ये जकड़े हुए हैं, मृत्यु के पायों के धारने के जो साधन हैं, इन सब (शत्रुओं) को बाँधकर मैं उनके अर्पण करता हूँ।"[1]

यहाँ मृत्यु के साधनों को पापों के धारनेवाला कहा गया है। स्पष्ट है कि यहाँ मृत्यु 'पाप' की अभीष्ट है, और यह भी कहा गया है कि पाप तथा पापी मृत्यु के बन्धन में स्वयं जकड़े हुए हैं। पापी के मारने को पाप महाबली है। दण्ड देनेवाले मनुष्य का हाथ तो केवल साधन का काम देता है, नहीं तो ईश्वर की चक्की ने पापी को पीस तो पहले ही रक्खा है। अब यदि प्रार्थना करनेवाले ने मृत्यु का लक्ष्य अपने पापों को बना रक्खा है तो, अथवा कोई मनुष्य अथवा मनुष्य-समाज अपने पापों के कारण ईश्वर के कोप का पात्र होता है तो, यहाँ लक्ष्य उनके पापों के नाश ही से है। यदि वह समाज स्वयमेव पापों से छुटकारा पा ले, तो पापी के रूप में तो उसकी मृत्यु हो गई! सुधरे हुए समाज के रूप में उसका नवजीवन आरम्भ हो गया। यदि कोई व्यक्ति अथवा समाज ऐसा है जो मानव-समाज के विरोध को छोड़ ही नहीं सकता, तो जो परिणाम उसके पाप का होगा, उसका अपना भी वही होगा। यहाँ इस तथ्य पर ध्यान देना चाहिये कि पाप अपने-आप में स्वयं एक मृत्यु है और वह मृत्यु पापी को जकड़े रहती है। मौलाना पूछते हैं—

प्रश्न—वेदों के ऋषि अपने शत्रुओं के लिए सन्मार्ग की प्रार्थना न करके उनकी मृत्यु की प्रार्थना क्यों करते हैं? क्या इससे यह स्पष्ट नहीं होता कि वे दूसरी जातियों को अपने अन्दर सम्मिलित नहीं करते थे?

मौलाना! यहाँ शब्द 'अपने' वेद के किस शब्द का अर्थ है? हम पहले बता चुके हैं कि यहाँ शत्रु दण्ड देनेवालों के अपने (शत्रु) नहीं, अपितु मानव-समाज के शत्रु हैं जिनके स्वभाव में ही शत्रुता है। मन्त्र में शब्द 'मृत्यु' के साथ 'पापों के छेदन करनेवाला' विशेषण के रूप में

---

१. मृत्यवेऽमून् प्र यच्छामि मृत्युपाशैरमी सिताः।
मृत्योर्ये अघला दूतास्तेभ्य एनान् प्रति नयामि बद्ध्वा ॥ (अथर्व० ८-८-१०)

विद्यमान है। भाव यह है कि मृत्यु तो पाप की ही अभीष्ट है, चाहे वह शिक्षा से हो अथवा दण्ड से। व्यर्थ में ही किसी को कष्ट देने का तो वेद विरोध करता है--

"निरपराध का मारना निश्चय ही भयंकर होता है।"[1]

परन्तु दण्ड देने के विचार से ईश्वर का भय मन में रखते हुए, ईश्वर के न्याय का साधन बनने की सीमा तक अर्थात् अपने स्वार्थ तथा क्रोध को सर्वथा मिटाकर, दण्ड देना पाप नहीं। मौलाना! जो मन्त्र में गुण की बात है, आपको वही अवगुण प्रतीत होता है। ज़रा दण्डदाता न्यायाधीश की इन भावनाओं पर भी ध्यान दीजिये! रही बात दूसरी जातियों को अपने में सम्मिलित करने की, सो क़ुर्आन शरीफ़ में कहा है—**"सचमुच मनुष्य एक जाति है, अतः ईश्वर ने शुभ सूचना देनेवाले, और भय दिखानेवाले नबी पुस्तक के साथ भेजे** (बकर० २६)।" **वह पुस्तक जिसके साथ बहुत-से (दो से अधिक) नबी (ऋषि) प्रकट हुए, वह पुस्तक वेद ही तो है!** इस पुस्तक के आगमन के समय सब मनुष्य एक जाति ही तो थे? शायद आपको शुद्धि से चिढ़ है, परन्तु वेद की आज्ञा है—**'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्!' सारे विश्व को आर्य बनाओ!** क्या आपके ये आक्षेप, काफ़िर अथवा इस्लाम को छोड़नेवाले व्यक्ति के (क़ुर्आन के कथनानुसार) क़त्ल कर देने के उत्तर में तो नहीं लिखे गये?

"ओ सूर्य की रश्मियो! ईश्वराज्ञा पर चलनेवाले देवताओ! हममें से जो मनुष्य मृत्यु के सखा बन रहे हैं, उनकी आयु जीने के लिए दीर्घ बनाइये।"[2]

सूर्य की किरणों से दूर रहनेवाले, अँधेरे मकानों में, अँधेरे से युक्त विश्वासों में, दुःखों के वातावरण में रहनेवाले, मृत्यु के सखा ही तो हैं! उनकी ओषधि है 'सूर्य-रश्मि की समीपता', खुला हुआ आध्यात्मिक वातावरण; यही उस रोग के लिए रामबाण है। ईश्वराज्ञा पर चलनेवाले देवताओं का संग ऐसे लोगों के लिए चमत्कारक होता है। अथर्ववेद में कहा है--

---

१. अनागोहत्या वै भीमा। (अथर्व० १०-१-२९)

२. ये चिद्धि मृत्युबन्धव आदित्या मनवः स्मसि।
प्र सू न आयुर्जीवसे तिरेतन॥ (ऋ० ८-१८-२२)

> "प्रकाश तथा उष्णता का स्रोत ईश्वर मुझे हर ओर से सुरक्षित रक्खे, उदय होता हुआ सूर्य भौतिक एवं आत्मिक मृत्यु के बन्धनों को तोड़ दे। उषा-काल का प्रकाश तथा न हिलनेवाले पर्वत मुझे सहस्रों प्राणों से युक्त करें।"[1]

प्रातःकाल का जागना, उदय होते सूर्य के प्रकाश में घूमना, पर्वतीय प्रदेशों की यात्रा, ये सब साधन मृत्यु को दूर भगाने, और जीवन-शक्ति को प्राप्त करने के हैं। ऐसे स्थानों तथा अवसरों पर ईश्वर का भजन तथा प्राणायाम, शरीर तथा आत्मा दोनों को स्वस्थ बनाता है। ईश्वर-भक्त का एक-एक प्राण नवजीवन को लाता है।

> "जो असंख्य मृत्यु (के साधन), विनाश करनेवाली बातें अथवा व्यक्ति हैं, जिनको त्याग देना ही उपयुक्त है, उनसे तुझे ईश्वर-भक्त, संसार के स्वामी, प्रकाश तथा आनन्द के स्रोत परमेश्वर की कृपा से छुड़ावे।"[2]

मन्त्र में आये शब्द एकशतम् का अभिप्राय हमने असंख्य से लिया है। शतम् या एकशतम् 'असंख्य' के अर्थों में आता है। संयोग से आंग्ल भाषा में भी यही उक्ति प्रसिद्ध है। वहाँ भी कहते हैं—"Hundred and one things" इसका शब्दार्थ तो है 'एक सौ एक वस्तुएँ', परन्तु भावार्थ 'असंख्य' से है। इन असंख्य मृत्युओं के साथ सत्यानाश करनेवाली बातों एवं लोगों का भी वर्णन है, जिसका अभिप्राय कुवासनाओं, कुकर्मों, कुविचारों अथवा बुरे साथियों से समान रूप से है। यह मृत्यु स्पष्ट ही नैतिक मृत्यु है; इससे बचने का तो उपदेश वेद को करना ही हुआ, इसी प्रकार शारीरिक मृत्यु भी कई प्रकार की हो सकती है। बौद्धिक तथा आत्मिक मृत्यु के भी कई रूप हैं। अथर्ववेद में कहा है—

> "ओ वृद्धावस्था ! यह व्यक्ति तेरी ओर बढ़े, उसे और सैकड़ों मौतें न मारने पावें।"[3]

---

१. अग्निर्मा गोप्ता परि पातु विश्वत उद्यन्त्सूर्यो नुदतां मृत्युपाशान्।
व्युच्छन्तीरुषसः पर्वता ध्रुवाः सहस्रं प्राणा मय्या यतन्ताम्॥
(अथर्व० १७-१-३०)

२. ये मृत्यव एकशतं या नाष्ट्रा अतितार्याः।
मुञ्चन्तु तस्मात्त्वां देवा अग्नेर्वैश्वानरादधि॥ (अथर्व० ८-२-२७)

३. तुभ्यमेव जरिमन् वर्धतामयं मेममन्ये मृत्यवो हिंसिषुः शतं ये।(अथर्व० २-२८-१)

हमने यहाँ शब्द का अर्थ सैकड़ों किया है, शब्द है 'सौ'। प्रार्थना यह की गई है कि वृद्धावस्था से पूर्व मृत्यु न आने पावे। शरीर की जो प्राकृतिक आयु में मृत्यु है, वेद-भक्त उससे बचने की इच्छा नहीं करता। यथा—"हे दयास्वरूप ईश्वर! जो आकाश में, धरती पर, वनस्पति में, ओषधि में, पशुओं में तेरी दया का रूप है, इस सेवक के लिए वृद्धावस्था में जीने का साधन करे, दूसरी सैकड़ों मृत्युओं से यह बच जावे।" (अथर्व० १-३०-३) धरती और आकाश, संसार के जड़-चेतन में, सर्वत्र दयालु ईश्वर की दया के रूप दृष्टिगोचर होते हैं। मनुष्य उनसे उपयुक्त लाभ उठाये, तो पूर्णायु (प्राकृतिक आयु) तक जीवित रहेगा ही! वेद में कहा है—

"मैं मृत्यु के बन्धन से इस प्रकार छूट जाऊँ, जैसे ककड़ी बेल से छूटती है। हाँ, मोक्ष से न छूट पाऊँ।"[1]

जब ककड़ी पक जाती है तो वह स्वयं बेल से अलग हो जाती है। इसी प्रकार वेदभक्त कहता है कि मैं संसार से तब तक सम्बन्ध रखूँ जब तक मेरा आत्मिक लक्ष्य पूर्ण नहीं हो जाता। शरीर एक बेल है; इसके साथ सम्बन्ध बना रहे, जब तक कि आत्मिक पूर्णता प्राप्त नहीं हो जाती। जब यह लक्ष्य पूर्ण हो जाये, तभी इससे जुदा हो जाऊँ। कितनी सुन्दर उपमा है! आत्मिक पूर्णता के पश्चात् शरीर से सम्बन्ध स्वयमेव छूट जावेगा, परन्तु आश्चर्य है कि मौलाना को इसमें भी भय की गन्ध कैसे आ गई? इसपर मौलाना का आक्षेप विशेष है—

प्रश्न—क्या उपर्युक्त मन्त्र, जिसमें अनन्त जीवन के लिए प्रार्थना की गई है, आर्यसमाज के मन्तव्य 'सान्त मोक्ष' (मुक्ति से छुटकारा) का खण्डन नहीं करता? और क्या यह इस्लामी सिद्धान्त का अनुमोदन नहीं?

—मौलाना से 'मुक्ति की निजात' शब्द अशुद्ध छप गया है; अगले संस्करण में सुधार कर लें। हमने ऊपर निवेदन किया है कि मृत्यु पर विजय पाना, अथवा मृत्यु से बचना, इसका अर्थ है 'मृत्यु के कष्ट से बचना'; यदि ऐसा नहीं तो शरीर की मृत्यु तो जीवन्मुक्त की भी होती है। मृत्यु के कष्ट से दो प्रकार के व्यक्ति बच सकते हैं—एक ईश्वर के

१. उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय मामृतात्। (ऋ० ७-५९-१२)

भक्त, दूसरे अनुभूतिशून्य व्यक्ति। यदि आप स्टूइक लोगों का मन्तव्य देखें, तो आप जानेंगे कि वे लोग अपने जीवन का लक्ष्य तपस्या को ही मानते हैं—शरीर को इस प्रकार से अनुभूतिशून्य बना देना कि इसे सुख-दुःख की अनुभूति हो ही नहीं, यही उनके जीवन का लक्ष्य है। मुक्ति अथवा परमात्म-दर्शन उनका ध्येय नहीं, उनका लक्ष्य नकारात्मक (Negative) है। शारीरिक सुखों से ऊँचा उठकर, सांसारिक सुख-दुःख के थपेड़ों से बच जाना, बस इतना उनके जीवन का लक्ष्य है। परन्तु वेद-भक्त इसके विरुद्ध प्रार्थना करता है कि 'मैं मृत्यु से अर्थात् मृत्युलोक के कष्टों से तो बच जाऊँ, परन्तु मोक्ष के आनन्द से वंचित न हो जाऊँ।' यहाँ पर मोक्ष के ससीम अथवा असीम होने का प्रश्न नहीं। कालान्तर में बौद्ध लोगों का जीवन-लक्ष्य भी केवल मिट जाना ही हो गया था। उनका निर्वाण भी कोई Positive (भावात्मक) आनन्द-प्राप्ति नहीं था; केवल जीवन का अभाव ही था। वेद इन विचारों को हटाता है। वहाँ मोक्षानन्द की प्राप्ति की कामना की है। हाँ, आपने मन्त्रानुवाद किया है "अनन्तता से मैं कभी न छूटूँ।" (वेदों का बहिश्त, पृष्ठ ८) मौलाना ! हृदय पर हाथ रखकर बताना, यह 'कभी' किस शब्द का अर्थ है ? मन्त्र तो कहता है मृत्यु से छूट जाऊँ, मोक्ष से नहीं। आपके जी में जो आवे आक्षेप कीजिये, परन्तु वेद का अभिप्राय भी अपनी कल्पना से जोड़ लेना कहाँ तक उपयुक्त है ?

छान्दोग्य उपनिषद् (८-६-१६) और कठोपनिषद् (२-६-१६) में एक मन्त्र आया है—"हृदय-पद्म की सैकड़ों (शब्दार्थ 'एक सौ एक') नाड़ियाँ हैं; उनमें से एक मस्तिष्क की ओर निकली हुई है। यदि यहाँ से प्राण निकलें तो मनुष्य मृत्यु पर विजय पा लेता है; दूसरी नाड़ियों से प्राण निकलने पर क्षोभ होता है।"[1]

उपनिषदों में योगियों के अनुभव लिखे हुए हैं। योगियों का कथन है कि योगी के प्राण मस्तिष्क की ओर से निकला करते हैं। कारण यह है कि योगी सदा अभ्यास द्वारा प्राणों को ऊपर चढ़ाता रहता है। जिसके प्राण इस प्रकार से निकलें, वह मुक्त हो जाता है। यहाँ 'एक-सौ-

---

१. शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका।
तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विश्वङ्न्या उत्क्रमणे भवन्ति॥ (छान्दोग्य ८-६-१६)

एक' नाड़ियों से अभिप्राय 'असंख्य' नाड़ियाँ हैं। यहाँ मृत्यु के भेदों की व्याख्या अभीष्ट नहीं। हाँ, योगियों की मृत्यु का इस प्रकार वर्णन किया है—वे अपने प्राणों को ऊपर चढ़ाकर स्वेच्छा से बाहिर निकाल देते हैं। जब उन्हें अनुभव होता है कि शरीर से जो कार्य लिया जाना था, वह हो लिया और अब यह शरीर इस योग्य नहीं कि आत्मा इससे लाभ उठा सके, तब वे इस शरीर से पकी हुई ककड़ी के समान अलग हो जाते हैं और अमर्त्य-लोक का मार्ग लेते हैं।

मौलाना का आक्षेप है—

प्रश्न—मृत्यु के एक सौ एक प्रकार, जिनका वेद-मन्त्र में वर्णन है, कौन-कौन-से हैं? और उनका कोई विज्ञान-सम्मत प्रमाण? यदि इस सम्बन्ध में उपनिषदों की व्याख्या ठीक है, तो बताइये कि वेदों के ऋषि योगियोंवाली मृत्यु से अथवा ईश्वर से मिलानेवालों से भय क्यों खाते थे? क्या इससे स्पष्ट नहीं होता कि ईश्वर से उनका इश्क तो क्या, साधारण प्यार भी नहीं था? अथवा उनके मन में वैदिक मोक्ष का कोई महत्त्व ही न था? और वे सांसारिक जीवन को ही उससे अच्छा समझते थे?

उत्तर—मृत्यु के प्रकार तो असंख्य हैं; शारीरिक, नैतिक बौद्धिक, आत्मिक ये चार प्रकार तो मुख्य हैं, फिर इनके भी सैकड़ों प्रकार होते हैं। इसमें वैज्ञानिक प्रमाण की आवश्यकता ही क्या है? रोज़ के अनुभव में यह प्रायः आता है। उपनिषदों में जिस विशेष मृत्यु का वर्णन किया है, वह ईश्वर के मिलाप में कारण नहीं, अपितु ईश्वर का मिलाप ही उसका कारण है। हम पहले कह चुके हैं कि मोक्ष तो जीते-जी हो लेता है। जीवनमुक्त की मृत्यु इस प्रकार से होती है जिसका वर्णन उपनिषद् में किया गया है। उसे इस प्रकार की मृत्यु की प्रार्थना करने की आवश्यकता नहीं। वेदानुयायी किस प्रकार की मृत्यु चाहता है?—देखिये। श्मशान में जब शव को जला रहे होते हैं, तो इन मन्त्रों का पाठ होता है—

(१) "जो पूर्व-काल में सत्य का प्रसार करते रहे, सत्य के प्रसार के कारण प्रसिद्ध हुए, ऐसे तपस्वी, संयमी ऋषियों में, ऐ संसार को नियन्त्रण में रखनेवाले परमेश्वर! यह तेरा सेवक भी उनमें

सम्मिलित हो !"[1]

(२) "जो ईश-भक्ति के कारण किसी से न दबनेवाले तपस्वी अपनी उपासना के बल से प्रकाश-लोक में प्रविष्ट हुए एवं भक्ति में उच्च स्थान प्राप्त किया, यह तेरा सेवक भी उनमें सम्मिलित हो।"[2]

(३) "जो वीर धर्मयुद्ध में (नैतिक युद्ध में) लड़ते हैं और शरीर त्यागते हैं, अथवा सहस्रों रुपयों का माल दान में लुटा देते हैं, उनमें यह तेरा सेवक भी हो।"[3] (अथर्व० १८-२-१५–१७)

अभिप्राय यह है कि यदि ब्राह्मण है तो तप तथा भक्ति से, क्षत्रिय है तो ईश्वर के मार्ग में युद्ध करने से, और वैश्य है तो अपने धन की भेंट करने से जीवन-मुक्त हो जाता है। इस अवस्था की प्राप्ति ही वेदानुयायी को अभीष्ट है। इस अवस्था में यदि मृत्यु आ जाये तो वह पराजित हो जाती है। इस प्रकार की मृत्यु का आनन्द ऋषि दयानन्द से पूछिये। उपनिषद् में कहा है—"मृत्यु जिसके लिए सालन है, मुरब्बा है, अथवा चटनी है।"[4] (मृत्योरस्यापसेचनम्)। स्वयं वेद कहता है—"जो आत्मिक बल (शक्ति) का दाता है, जो शक्ति देनेवाला है, जिसकी इच्छा को सब भक्त स्वीकार करते हैं, मृत्यु तथा मोक्ष जिसकी छाया है, उस प्रकाश तथा आनन्द के केन्द्र की हम सच्चे हृदय से भक्ति करें।" (य आत्मदा बलदा···ऋ० १०-१२१)

वेदानुयायी का मृत्यु एवं मोक्ष-सम्बन्धी यह दृष्टिकोण है। इसे ध्यान में रखिये और फिर बतलाइये कि यहाँ ईश्वर के प्रेम की चरम सीमा है कि नहीं? ईश्वर के अर्पित हो जानेवाले के लिए मोक्ष भी ईश्वर की छाया है, और मृत्यु भी उसी की छाया है।"

*

---

१. ये चित्पूर्व ऋतसाता ऋतजाता ऋतावृधा।
ऋषीन्तपस्वतो यम तपोजाँ अपि गच्छतात्॥

२. तपसा ये अनाधृष्यास्तपसा ये स्वर्ययुः।
तपो ये चक्रिरे महस्तांश्चिदेवापि गच्छतात्॥

३. ये युध्यन्ते प्रधनेषु शूरासो ये तनूत्यजः।
यो वा सहस्रदक्षिणास्तांश्चिदेवापि गच्छतात्॥ (अथर्व० १८-२-१५–१७)

४. मरता नहीं है माइले-परवाज़ है कोई,
जैसे बुला रही इसे आवाज़ है कोई।
आँखें जो तक रही हैं तो दर बाज़ है कोई,
रहमत नहीं है स्वामी की, यह राज़ है कोई। (महरूम)

जीव की कब्र––भौतिक जगत् में तल्लीनता

वेद के कुछ मन्त्रों में मौलाना को कब्र के दुःखों का वर्णन दीख पड़ा है। जहाँ धरती की बात चली, मौलाना समझे कि कब्र का वर्णन आया है। वहाँ कोई धरती खोदने की बात नहीं, धरती के खोदने के साधनों की चर्चा नहीं, और कब्र के लिए वेद में कोई पारिभाषिक शब्द भी नहीं, परन्तु मौलाना को फ़िर भी कब्र का सन्देह हो जाता है। पृथिवी वस्तुतः भौतिक जगत् का प्रतिनिधि शब्द है। कहीं-कहीं (वेद में) पृथिवी, अन्तरिक्ष तथा द्युलोक से तीन आश्रमों का अभिप्राय भी लिया जाता है। ब्रह्मचर्याश्रम में तो ब्रह्मचारी गुरु अथवा गुरुकुलरूपी माता के उदर में ही रहता है। गृहस्थ में आकर पृथिवीलोक पर पाँव रखता है, भौतिक जगत् के सुखों से लाभ उठाता है। फिर वानप्रस्थ में आकर जैसे वह अन्तरिक्ष में प्रविष्ट होता है। अन्तरिक्ष उसका अपना हृदय है। उसका समय ज्ञान-ध्यान में व्यतीत होता है। अतः वह अन्तरिक्ष अर्थात् भीतर के संसार में रहता है। अपने परिवार से अलग होकर अब वह संसार-भर का पिता बन जाता है। इसके लिए पारिभाषिक शब्द है 'पितर' और जहाँ ऐसे पितर रहते हैं उसे पितृलोक कहते हैं। वान-प्रस्थाश्रम से मुक्त होकर यदि वह संन्यासी बन सके तो जैसे वह द्युलोक का वासी हो गया। यह प्रकाश का लोक है, गेरुए वस्त्र ही चमकते हुए प्रकाश का चिह्न हैं। इस अध्याय में हमारा सम्बन्ध केवल पृथिवीलोक से है और यह भौतिक जीवन का उपलक्षण है, जिसका सुख अधिकतर गृहस्थ आश्रम में अनुभव होता है। कहा है—

> "ऐ प्रकाशस्वरूप ! इस सेवक को प्राण तथा दर्शन-शक्ति से युक्त, शक्तिशाली शरीरवाला रख। तू मृत्यु से छुड़ाने के प्रकार जानता है। यह तेरा भक्त न तो यहाँ से जाये और न ही भौतिक जगत् में डेरा डालकर बैठ जाये।" (अथर्व० ५-३-१४)

---

१. प्राणेनाग्ने चक्षुषा सं सृजेमं समीरय तन्वा सं बलेन।
वेत्थामृतस्य मा नु गान्मा नु भूमिगृहो भुवत्॥ (अथर्व० ५-३०-१४)

मौलाना का अर्थ है 'और न कब्र में रहने दे', वेद के शब्द हैं 'भूमि को घर न बना लें'; यह वेद की विशेष पारिभाषिक शब्दावली है। एक अन्य स्थान पर प्रार्थना की गई है—

"ओ प्रकाश के पुत्र ! ओ प्रिय परमेश्वर ! मैं मिट्टी के घर में न रह जाऊँ। ओ सच्चे रक्षक ! तू कृपा कर, कृपा कर !"[1]

भौतिक जगत् को यहाँ अलंकृत भाषा में 'मिट्टी का घर' कहा है। अभिप्राय क्या है ? यही है कि हम इस (भौतिक जगत्) में ही न खो जायँ। अथर्ववेद के उपर्युक्त मन्त्र में प्रार्थना है कि यह भक्त न तो संसार से हट जाए, और न ही इसमें डेरा डालकर बैठ जाए। संसार में रहे परन्तु संसार में खो न जाए। यह सत्य के मार्ग का पथिक है, जिसकी कठिनाइयों को ईश्वर ही जानता है। अतः ईश्वर से शक्ति माँगी है कि मेरे नेत्र इस भौतिक जगत् की चकाचौंध में अपना आत्मिक प्रकाश खो न बैठें। संसार (भौतिक जगत्) में डूब जाना ही तो मृत्यु है ! मैं इससे बचा रहूँ। संसार की उपमा वृक्ष से भी दी गई है; यह मन्त्र प्रसिद्ध है—

"दो कर्मठ, जो एक-दूसरे के मित्र हैं और एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं, एक ही वृक्ष (भौतिक जगत्) से जुड़े हैं। उनमें से एक अपने किये का मीठा फल खाता है, और दूसरा बिना खाये उसे देख रहा है।"[2]

वृक्ष की इसी उपमा को दृष्टि में रखकर कहा है—

"ऐ संसार के वृक्ष ! यह व्यक्ति जो तुझमें विद्यमान है, इसे वापस कर दे (स्वयं में डुबो न दे) ताकि नियन्त्रणकर्ता ईश्वर के सामीप्य में वह पवित्र स्तुति में व्यस्त रहे।"[3]

वृक्ष शरीर को भी कहा गया है; अश्वत्थ की उपमा शरीर के लिए अति प्रसिद्ध है—

---

१. मो षु वरुण मृन्मयं गृहं राजन्नहं गमम्।
मृळा सुक्षत्र मृळय ॥ (ऋ० ७-८९-१)

२. द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषष्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥ (ऋ० १-१६४-२०)

३. पुनर्देहि वनस्पते य एष निहितस्त्वयि।
यथा यमस्य सादन आसातै विदथा वदन् ॥ (अथर्व० १८-३-७०)

"ऐ मनुष्य ! न तुझे शरीर का वृक्ष दबा ले और न भौतिक जगत् ।"[1]

"ओ तपस्वी ! शान्तिपूर्वक तपस्या कर; शक्ति से अधिक तप न कर ! अपने शरीर को जला न दे ! तेरा प्रकाश वनों में हो, तेरा तेज धरती पर फैले ।"[2]

मौलाना का आक्षेप है कि शव को जलाते समय इन मन्त्रों का पाठ बताता है कि तब भी शरीर के साथ जीव का कुछ-न-कुछ सम्बन्ध अवश्य है, नहीं तो अग्नि अथवा पृथिवी से ये प्रार्थनाएँ व्यर्थ हैं। यहाँ काव्यमय भाषा में भौतिक संसार से सम्बोधन है, और मौलाना काव्य का आनन्द न लेकर इसे पृथिवी से प्रार्थना समझ बैठे हैं। अब क्या कहा जाए ! शव को जलाते हुए विरक्ति के ये विचार स्वभावतः जागते हैं। मनुष्य संसार से विरक्त हो जाता है। शव तो सम्मुख पड़ा है, जीव-रहित है, उसे जलाया भी जा रहा है; अग्नि से लाख प्रार्थना करो, वह तो उसे जलाकर ही छोड़ेगी। यदि कब्र हो, तो भी प्रार्थना से उसका भार हल्का नहीं हो सकता। तो इस अवस्था में क्या आपके कथनानुसार प्रार्थना व्यर्थ न होगी ? वस्तुतः यहाँ दर्शकों के मन में विरक्ति का भाव जगाना अभीष्ट है। मृतक के शरीर को जलता देखकर ज्ञान-नेत्र रखनेवाले लोगों के मन में अपने शरीर तथा सांसारिक सम्बन्धों से कुछ विरक्ति जागना स्वाभाविक भी है। वेद इस अवस्था में शिक्षा देता है कि भाई ! न तो विरक्ति की सीमा से बढ़ और न अनुरक्ति से संसार के सुखों में डूब जा। मौलाना के मस्तिष्क में यह विचार बैठा हुआ है कि शव कब्र में पड़ा रहता है, और जीव उस शव में बन्दी रहता है; कहीं कब्र का भार उसपर भारी न पड़ जाय, अतः कुछ स्थान खाली छोड़ते हैं; उसे असामी के हवाले करते हैं, परन्तु मौलाना इन विचारों को वेद से जोड़ने का विफल प्रयास भी करते हैं। और फिर आप आर्यसमाज से बात कर रहे हैं, जहाँ शव को दबाना, उस (जीव को) प्रलयकाल तक शव में सुरक्षित समझना, मुनकिर-नकीर नाम के फ़रिश्तों से मृतक का वार्तालाप इत्यादि कल्पनाएँ तो हैं नहीं और न ये कल्पनाएँ बुद्धिपूर्वक हैं। अच्छा तो यही था कि अपने मन्तव्य को युक्तियुक्त बनाते, परन्तु

१. मा त्वा वृक्षः सं बाधिष्ट मा देवी पृथिवी मही। (अथर्व० १८-२-२५)

२. शं तप माति तपो अग्ने मा तन्वं तपः।
वनेषु शुष्मो अस्तु ते पृथिव्यामस्तु यद्धरः॥ (अथर्व० १८-२-३६)

आप दूसरों को भी उस अज्ञान में साथी बनाने पर तुले हैं। मौलाना का यह व्यवहार मित्रता की भावनात्मता सही, सद्भावपूर्ण भी मान लें, तो भी वेद के सम्बन्ध में ऐसा व्यवहार अत्याचार है। शव के जलने पर एकत्रित हुए लोग वेद के ये विरक्ति की भावना से पूर्ण शब्द अपनी जिह्वा पर लाते हैं—"ऐ मनुष्य ! तू आज देखता है; शायद कल प्रकाश-लोक में इस सूर्य को न देख सकेगा। ऐ धरती-लोक ! जैसे माता बच्चे को लपेटती है, ऐसे ही इस व्यक्ति को हर ओर से सुरक्षित कर ले।" (अथर्व० १८-२-५) इस वृद्धावस्था में यही क्षण है; शायद दूसरा क्षण न मिले ! दूसरे जन्म की अवस्था और हो ! ऐ भौतिक जगत् ! जैसे पत्नी अपने पति की ओट बन जाती है, ऐसे ही तू इस मनुष्य की ओट बन जा।" (अथर्व० १८-२-५१) परमेश्वर कहता है—मैं तुझे इस भौतिक जगत् में इस प्रकार ढाँपता हूँ जैसे माता के वस्त्रों में बच्चा ढाँपा जाता है। जीवों के लिए जो कृपा है वह मुझमें है; जो वृद्धावस्था में भक्ति का धन है वह तेरा अपना है। मनुष्य कर्म करता है, उसका फल उसे सांसारिक जीवन में कई रूपों में प्राप्त होता है। सब जीवों के लिए सुख के साधन समान हैं; वे ईश्वर की कृपा का परिणाम हैं। वस्तुतः प्रभु की कृपा मनुष्य के शुभ कर्मों का हाथ पकड़कर उसका बेड़ा पार करती है। ऋग्वेद में कहा है—

> "प्रकृति माता के पास जा। उसका विस्तार अत्यधिक है, वह तेरा भला करनेवाली है। योगियों के लिए ऊन के समान कोमल तथा सदायुवा है, वह तेरी पाप से रक्षा करे।"[1]
>
> "ओ भौतिक जगत् ! मुझे उच्च बना, दबा नहीं ! इस व्यक्ति का स्वागत कर, इसकी अच्छी प्रकार सेवा कर।"[2]
>
> "ऊँचा उठानेवाला संसार तेरे लिए कृपापूर्ण हो, सहस्रों सुख तेरे पास आएँ, तेरे घर में घी सदा अधिक मात्रा में रहे। इस व्यक्ति के लिए सब ओर आश्रय-स्थान हो।"[3]

---

१. उप सर्प मातरं भूमिमेतामुरुव्यचसं पृथिवीं सुशेवाम्। ऊर्णम्रदा युवतिर्दक्षिणावत एषा त्वा पातु निर्ऋतेरुपस्थात्॥ (ऋ० १०-१८-१०)

२. उच्छ्वञ्चस्व पृथिवि मा नि बाधथाः सूपायनास्मै भव सूपवञ्चना। माता पुत्रं यथा सिचाऽभ्येनं भूम ऊर्णुहि॥ (ऋ० १०-१८-११)

३. उच्छ्वञ्चमाना पृथिवी सु तिष्ठतु सहस्रं मित उप हि श्रयन्ताम्।
ते गृहासो घृतश्चुतो भवन्तु विश्वाहास्मै शरणाः सन्त्वत्र॥ (ऋ० १०-१८-१२)

"(ईश्वर कहता है) इस विस्तृत जगत् को तेरे चारों ओर से उठाता हूँ। (मनुष्य कहता है) इस ढेले का रखवाला होना (धरोहर रखनेवाला होना) मेरे लिए हानिप्रद न हो। इस भवन को पितर उठाये रहें। नियन्त्रण रखनेवाला परमेश्वर तेरे निवास-स्थान का नियन्त्रण करे।"[1]

सांसारिक सुखों को 'मिट्टी का ढेला' कहा है। संस्कृत का एक प्रसिद्ध श्लोक है जिसमें पराये धन को मिट्टी के ढेले के समान समझना सत्यदृष्टि कहा गया है (परद्रव्येषु लोष्ठवत्)। अभिप्राय यह है कि जीव इस प्रकृति से बने भवन (शरीर) में रहे तो सही, परन्तु इसे अपनी कब्र न बना ले। परन्तु मौलाना को इस मन्त्र में कब्र-ही-कब्र खुदती दिखाई देती हैं। अपनी-अपनी दृष्टि है! हम तो इससे पूर्व भी निवेदन कर चुके हैं कि वेद में तो कब्र के लिए कोई शब्द भी नहीं है, फिर कैसे माना जाये कि वेद में कब्रें बनाने की आज्ञा है? मौलाना का आक्षेप यह है—

प्रश्न—क्या मन्त्र सं० १३ शव को अग्नि में जलाते समय उसके दुःख की अथवा जीव के शरीर में विद्यमान होने की बात नहीं कहता? पृष्ठ १५ के मन्त्र शव को गाड़ने, कब्र बनाने, विशेष रूप से मुसलमानों जैसी कब्र बनाने और कब्र के दुःखों-सम्बन्धी मन्तव्य का अनुमोदन नहीं करते? जब शव को धरती माता के अर्पण करने की उपमा बच्चे को माता के अर्पण करने से दी है, क्या यह ममतामय संकेत शव को जलाने की अपेक्षा शव को दफ़न करने के महत्त्व को नहीं कहता?

—मौलाना ने जिन मन्त्रों की चर्चा की है वे हमने अर्थ-सहित लिख दिये हैं। उनमें न तो कब्र के दुःख का वर्णन है और न अग्नि का। मौलाना ने अपने मन्तव्यानुसार व्यर्थ में ही धरती को कब्र तथा वृक्ष को अग्नि के रूप में कल्पित कर लिया है। वेद के मन्त्रों से इस प्रकार के भाव कोई कब्रों के खोदनेवाला जान पाये तो मौलाना का अनुवाद उसके बड़े काम आयेगा।

धरती को, जो भौतिक जगत् की प्रतिनिधि है, माता के रूप में कहने से अभीष्ट यह है कि मनुष्य बच्चे के समान सरल एवं निरीह

---

१. उत्ते स्तभ्नामि पृथिवीं त्वत्परीमं लोगं निदधन्मो अहं रिषम्।
एतां स्थूणां पितरो धारयन्तु तेऽत्रा यमः सादना ते मिनोतु॥
(ऋ० १०-१८-१३)

जीवन व्यतीत करे। पत्नी से सम्बन्ध यज्ञ का होता है। पत्नी पति की ओट है। भौतिक जगत् को पत्नी समझना और यज्ञमय जीवन से इसका उपयोग करना (**तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः**) उपयुक्त है। हाँ, उसे मज़िन्ना (शंका का विषय) नहीं बनाना चाहिये।

बाल ब्रह्मचारी या संन्यासी संसार को माता मानता है। गृहस्थी इनसे विवाह करता है। वेद की दृष्टि में इस जगत् के सुखों में डूब जाना बुरा है और इससे वेद रोकता है—

१. मैं इस मिट्टी के घर में ही न रह जाऊँ। (ऋग्वेद)

२. यह व्यक्ति इस भौतिक जगत् में डेरा न डाल ले। (अथर्व०)

*

नरक

पाप स्वयं एक नरक है

इसके पारिभाषिक अर्थ हैं—नीचे जाना, पतन का लोक। वेद में कहा है—

> "ओ पूज्य देवताओ ! आज मेरी ओर ध्यान दो। मैं हृदय से भयभीत आपकी सेवा में आया हूँ। हमें नाश करनेवाले (पापरूपी) व्याघ्र से तथा पतन के लोक से बचाओ।"[1]

> "पापियों, अनृत कथन करनेवालों तथा असत्यवादियों ने इस गहरे (पतन के) स्थान को बनाया है।"[2]

अर्थात् पतन का कारण स्वयं पापी होता है, इससे अधिक नरक के किसी स्थानविशेष पर होने का खण्डन नहीं हो सकता। वेद ने कहा है—

> "ओ दयालु, तेजस्वी परमेश्वर ! पापी के चारों ओर पाप इस प्रकार जोश (तीव्रता) मारे, जैसे अग्नि में वेग हो।"[3]

पाप स्वयं नरक की अग्नि है। फिर भी यदि कोई नरक को स्थान-विशेष पर माने तो "बरी अक़्लो दानिश बिबायद गरीस्त"—इसका बुद्धि का मातम करना चाहिये।

> "ऐ तेज एवं दया के स्रोत ! पापियों को अथाह तमपूर्ण गढ़ों में डाल दो। यहाँ तक कि कोई फिर सिर न उठा सके। तुम्हारा क्रोध उनकी शिक्षा के लिए हो।"[4]

---

१. अर्वाञ्चोऽ अद्या भवता यजत्राऽ आ वो हार्दि भयमानो व्ययेयम्।
त्राध्वं नो देवा निजुरो वृकस्य त्राध्वं कर्तादवपदो यजत्राः ॥ (यजुः० ३३-५१)

२. पापासः सन्तो अनृता असत्या इदं पदमजनता गभीरम्। (ऋ० ४-५-५)

३. इन्द्रासोमा समघशंसमभ्यघं तपुर्ययस्तु चरुरग्निवाँ इव ॥ (ऋ० ७-१०४-२)

४. इन्द्रासोमादुष्कृतो वव्रे अन्तरनारम्भणे तमसि प्र विध्यतम्।
यथा नातः पुनरेकश्चनोदयत्तद्वामस्तु सहसे मन्युमच्छवः ॥ (ऋ० ७-१०४-३)

"ऐ तेज एवं दया की शक्तियो ! पापी पर धरती तथा आकाश के तीव्र क्रोध का घेरा डाल दो।"[1]

"जो परिणाम की बात कहनेवालों का उपहास उड़ाते हैं, सज्जनों को अपने बल से डराते हैं, उन्हें ईश्वरीय शक्ति पाप के हवाले कर दे, अर्थात् दुःख की गोदी में बिठाए।"[2]

"ओ दया एवं शक्तिरूप ! आकाश से जलती हुई अग्नि से तपे दृढ़ वज्र का घेरा डाल दो। लोभी को पतन के गर्त में गिराओ ! वे चुपचाप इस अवस्था को प्राप्त हों।"[3]

इन मन्त्रों में 'अहि' तथा 'ऋति' शब्द प्रयुक्त हुए हैं। दोनों का अर्थ 'पाप' है एवं नरक तथा पाप का दण्ड भी है। परमेश्वर की शक्ति पापियों को इनके हवाले करती है। दण्ड की कितनी सुन्दर कल्पना है ! पापी के मारने को पाप महाबली है।

निरुक्त (१-१०) में नरक शब्द की दो प्रकार से निरुक्ति की गई है—नी, र, क—नीचे जाना; न, र, क—सुख का अभाव।

एक स्थान पर तद्धित के प्रयोग में नारक का प्रयोग हुआ है, जिसका अर्थ है—नरक का। मौलाना को भ्रम है कि यह शब्द अरबी के नार शब्द से बना है जिसका अर्थ अग्नि होता है। क्या मौलाना का यह विचार है कि नरक की कल्पना वेद में क़ुर्आन से आई है ? वेद इस कृपा के लिए तो मौलाना का आभारी है, परन्तु नरक अर्थात् पतन अथवा दुःख तो केवल वैदिक विचार है और नारक शब्द को अरबी के नार अर्थात् अग्नि से जोड़कर स्थानविशेष का जो विचार मौलाना लाए हैं, वैदिक मन्तव्यों में उसके लिए तो स्थान नहीं है, अतः यह विचार धन्यवाद के साथ वापस।

"वह अपने शरीर तथा सन्तान का शत्रु हो, तीनों लोकों में वह नीचा देखे, उसका यश मुर्झा जाये, ऐ देवताओ ! जो हमें दिन

---

१. इन्द्रासोमा वर्तयतं दिवो वधं सं पृथिव्या अघशंसाय तर्हणम्। (ऋ० ७-१०४-४)

२. ये पाकशंसं विहरन्त एवैर्ये वा भद्रं दूषयन्ति स्वधाभिः। अहये वा तान् प्रददातु सोम आ वा दधातु निर्ऋतेरुपस्थे ॥ (ऋ० ७-१०४-९)

३. इन्द्रासोमा वर्तयतं दिवस्पर्यग्नितप्तेभिर्युवमश्महन्मभिः। तपुर्वधेभिरजरेभिरत्रिणो नि पर्शाने विध्यतं यन्तु निस्वरम् ॥ (ऋ० ७-१०४-५)

को अथवा रात्रि को कष्ट दे।"[१]

"बुद्धिमान् व्यक्ति को संकेत ही पर्याप्त होता है। सत्य तथा अनृत एक-दूसरे के विरोधी हैं। इनमें जो सत्य है, उसे परमेश्वर की दया सुरक्षित करती है और अनृत का हनन करती है।"[२]

"परमेश्वर की दया पाप को बढ़ावा नहीं देती; उस योद्धा को, जो असत्य को बढ़ाता है, उसका उत्साह नहीं बढ़ाती; पापवृति को समाप्त करती है, असत्य का नाश करती है। ये दोनों उस तेज के बन्धन में जकड़े हुए अचेत सोते हैं।"[३]

"ओ ईश्वरीय तेज! मायावी पुरुष एवं माया से मृत्यु लानेवाली स्त्री का नाश कर। वे (स्त्री-पुरुष) जो जनता को मारने में आनन्द मनाते हैं, उनके सिर कट जाएँ, वे सूर्य को ऊपर उगता न देखें।"[४]

"जो स्त्री रात्रि को उल्लू के समान घूमती है, शरीर को छिपाये हुए, जनता का अहित सोचती है, वह परमेश्वर की कृपा से गहरे गढ़ों में जा पड़े। शिक्षक लोग अपनी शिक्षा से पापियों के पाप को समाप्त करें।"[५]

"आकाश से पत्थरों की वर्षा कर, ओ ईश्वरीय तेज! जिसे तेरी दया ने साहस दिया है, उसे शिक्षा दे। आगे, पीछे, ऊपर, नीचे से पापी पर आपत्तियों का भार डाल।"[६]

---

१. परः सो अस्तु तन्वा तना च तिस्रः पृथिवीरधो अस्तु विश्वाः। प्रति शुष्यतु यशो अस्य देवा यो नो दिवा दिप्सति यश्च नक्तम्॥ (ऋ० ७-१०४-११)

२. सुविज्ञानं चिकितुषे जनाय सच्चासच्च वचसी पस्पृधाते। तयोर्यत्सत्यं यतरदृजीयस्तदित्सोमोऽवति हन्त्यासत्॥ (ऋ० ७-१०४-१२)

३. न वा उ सोमो वृजिनं हिनोति न क्षत्रियं मिथुया धारयन्तम्। हन्ति रक्षो हन्त्यासद्वदन्तमुभाविन्द्रस्य प्रसितौ शयाते॥ (ऋ० ७-१०४-१३)

४. इन्द्र जहि पुमांसं यातुधानमुत स्त्रियं मायया शाशदानाम्। विग्रीवासो मूरदेवा ऋदन्तु मा ते दृशन्त्सूर्यमुच्चरन्तम्॥ (ऋ० ७-१०४-२४)

५. प्र या जिगाति खर्गलेव नक्तमप द्रुहा तन्वं गूहमाना। वव्राँ अनन्ताँ अव सा पदीष्ट ग्रावाणो घ्नन्तु रक्षस उपब्दैः॥ (ऋ० ७-१०४-१७)

६. प्र वर्तय दिवो अश्मानमिन्द्र सोमशितं मघवन्त्सं शिशाधि। प्राक्तादपाक्तादधरादुदक्तादभि जहि रक्षसः पर्वतेन॥ (ऋ० ७-१०४-१९)

इनमें से छ: मन्त्रों में ईश्वर अपनी दो शक्तियों, तेज तथा दया को आदेश देता है कि पापी के साथ कैसा व्यवहार करें। पाप तो व्याघ्र है (यजु० ३३-५१)। पापी अपने पतन का गढ़ा स्वयं खोदता है (ऋ० ४-५-५)। पाप स्वयं नरक की अग्नि है (ऋ० ७-१०४-२)। पापी पर धरती-आकाश क्रोध की वर्षा करते हैं (ऋ० ७-१०४-४)। वह चुपचाप पतन के गढ़े में गिरता है (ऋ० ७-१०४-५)। पापी के मारने को पाप महाबली है (ऋ० ७-१०४-९)। पापी का अपना शरीर तथा सन्तान तक उसका साथ नहीं देते, वह स्वयं उनका शत्रु बनता है (ऋ० ७-१०४-११)। पापी पर दया करना पाप को बढ़ावा देना है। अत्याचारी एवं पापी परमेश्वर के तेज में अचेत सोते हैं।

(ऋ० ७-१०४-१३)।

यह है वेद में वर्णित नरक का स्वरूप !

*

ब्राह्मण की गौ

वैदिक साहित्य के ज्ञाता यह मानते हैं कि वैदिक साहित्य में ब्राह्मण किसी जातिविशेष को नहीं माना गया। अपितु ऐसा व्यक्ति, जो विद्वान् है और जिसने अपनी सारी विद्या ईश्वर तथा उसके पुत्रों की सेवा में समर्पित कर दी है, भक्ति ही जिसका धन है, जन-सेवा ही जिसकी सम्पत्ति है, तपस्या ही जिसका आनन्द है, सरलता ही जिसका आभूषण है, सत्य ही जिसका राज्य है और भगवान् का भय ही जिसकी वीरता है, ऐसा व्यक्ति ब्राह्मण है। वेद का कथन है—

> "जो ब्राह्मण पर थूकते हैं, उसपर कर लगाते हैं, वे लोग रक्त की नदी में बालों को खाते हुए दिन व्यतीत करते हैं।"[1]

अर्थात् उनका परलोक बिगड़ जाता है। ब्राह्मण का अपमान करना, उसपर कर लगाना और वह धन सरकार के कोष में जमा कराना, ऐसा कृत्य है जैसे रक्त की नदी में बहना, और उससे बालों का खाना। अभिप्राय यह है कि किसी तपस्वी का धन लेना राजा के लिए पाप है; ब्राह्मण को कष्ट नहीं देना चाहिए।

> "जो ब्राह्मण को अपना ग्रास मानता है, वह हलाहल विष को पीता है।"[2]

राज्य के सम्बन्ध में वेद का सुन्दर अलंकृतवर्णन है—राष्ट्र एक गौ है, राजा के पास यह गौ धरोहर-रूप में है, ब्राह्मण इसका स्वामी है, वे तपस्वी ब्राह्मण जिन्होंने स्वेच्छा से दरिद्रता का जीवन स्वीकार किया है, जो उदर-समाते अन्न से अधिक किसी प्रकार के धन का संग्रह नहीं करते, यह राष्ट्र वस्तुतः उन ब्राह्मणों का है; वे प्रजा के रक्षक हैं,

---

१. ये ब्राह्मणं प्रत्यष्ठीवन् ये वास्मिन्छुल्कमीषिरे।
अस्नस्ते मध्ये कुल्यायाः केशान् खादन्त आसते॥ (अथर्व० ५-१९-३)

२. यो ब्राह्मणं मन्यते अन्नमेव स विषस्य पिबति तैमातस्य। (अथर्व० ५-१८-४)

वे जब चाहें राजा को हटा दें; राजा यदि अत्याचार करता है, तो ब्राह्मण उसे सिंहासन से च्युत कर दें; राजा यदि इन्कार करे तो परिणाम बुरा होगा।

"ब्राह्मण को वाणी बनाकर देवताओं ने गौ माँगी, देने से इन्कार करने पर वह पापी उन सबके क्रोध का भागी होता है।"[1]

जो व्यक्ति अपना जीवन जनहित के लिए अर्पित कर देते हैं, वे सब देवता हैं। वह ब्राह्मण जो अपनी विद्या, वह क्षत्रिय जो अपनी वीरता, वह वैश्य जो अपना धन, जनहित में लगाता है, वह देवता है। मनुष्य-जीवन वस्तुतः एक यज्ञ है; अपनी सामर्थ्यानुसार सबको इसमें अपनी आहुति देनी चाहिये। राज्य ऐसे देवताओं की सम्पत्ति है। यदि राजा राज्य के अधिकार से उनको वंचित करता है, तो वह चोर है; वेद ने उसे मानुष कहा है, देव नहीं कहा। जब शब्द 'मानुष' देव के सम्मुख आये तो उसका अर्थ है **पापी**। ब्राह्मण सर्वस्व होम देनेवाला, जनता का प्रतिनिधि होता है। फिर कहा है—

"वशा (राष्ट्र) राजा की माता है; प्राचीन काल से यह व्यवस्था चली आ रही है। यह गौ जो ब्राह्मण को दी जाती है, वह दान नहीं, क्योंकि इसके लेने में ब्राह्मण का कोई स्वार्थ नहीं है।"[2]

जैसे चमचे में डाला घृत उसे अग्नि की ओर ले जाता है, इसी प्रकार राष्ट्र ब्राह्मण को देता हुआ (राजा) उसे (यज्ञ की) अग्नि अथवा परमेश्वर के अर्पण करता है।"[3]

"न्याय के राज्य में राष्ट्र अर्पित करनेवाले की सब इच्छाएँ पूरी होती हैं। यदि माँगने पर भी वह देने से इन्कार करे, तो (उसका परिणाम) नरक कहा जाता है।"[4] अर्थात् इस अवस्था में

---

१. देवा वशामयाचन् मुखं कृत्वा ब्राह्मणम्।
तेषां सर्वेषामददद्धेडं न्येति मानुषः॥ (अथर्व० १२-४-२०)

२. वशा माता राजन्यस्य तथा संभूतमग्रशः।
तस्या आहुरनर्पणं यद् ब्रह्मभ्यः प्रदीयते॥ (अथर्व० १२-४-३३)

३. यथाज्यं प्रगृहीतमालुम्पेत् स्रुचो अग्नये।
एवा ह ब्रह्मभ्यो वशामग्नय आ वृश्चतेऽददत्॥ (अथर्व० १२-४-३४)

४. सर्वान् कामान् यमराज्ये वशा प्रददुषे दुहे।
अथाहुर्नारकं लोकं निरुन्धानस्य याचिताम्॥ (अथर्व० १२-४-३६)

विद्रोह जाग उठता है।

"जो शत्रु से मेल-मिलाप बढ़ाता है और मित्र को कष्ट देता है, जो आयु में बड़ा होकर भी मूर्ख है, उसे छोटा कहते हैं।"[१]

अज्ञो वै बाल; पिता भवति तु मन्त्रदः। (मनु०)

"प्रेम के जादू से वश में आये मेरे शत्रु साथियों-सहित अकर्मण्यता की दशा को प्राप्त हो गये, वे अधःपतन को जाएंगे ही।"[२]

ज़ुबाँ खोलेंगे मुझ पर बदज़ुबाँ क्या बदशिआरी से
कि मैंने ख़ाक भर दी उनके मुँह में ख़ाकसारी से।

"लोभ, अत्याचार, धोखा, इन सबका पतन हो।"[३]
अर्थात् समाज में इन दुर्गुणों के रखनेवालों का सम्मान न हो।

"ओ अनश्वर! तू नहीं मरेगा, नहीं मरेगा, भय मत कर! वहाँ न मरते हैं न पतन के अँधेरे में जाते हैं।" "वहाँ गौ, घोड़ा, मनुष्य और पशु जीवित हो जाता है। वहाँ यज्ञ किया जाता है जो जीवन के सुख की परिधि है।"[४]

यज्ञ ईश्वर के निमित्त किये गये कर्म को कहते हैं। जहाँ ईश्वरार्पित भक्त निवास करते हैं वहाँ मनुष्य तो मनुष्य, पशु भी नवजीवन को प्राप्त करते हैं। पूजा तथा दान का वातावरण चेतन, अचेतन, सबपर अपना आत्मिक प्रभाव डालता है। मौलाना ने इन मन्त्रों के जो अर्थ किये हैं, वे न तो कोश से ठीक हैं और न व्याकरण से। आपने अथर्व० के मन्त्र २०-१२८-२ का अर्थ किया है—"मूर्ख जो बड़ों का अपमान करता है निचले लोक में है।" मन्त्र में 'मूर्ख' तथा 'बड़ा' विशेष्य-विशेषण हैं।

---

१. यो जाम्या अप्रथयस्तद् यत् सखायं दुधूर्षति।
ज्येष्ठो यदप्रचेतास्तदाहुरधरागिति॥ (अथर्व० २०-१२८-२)

२. वरणेन प्रव्यथिता भ्रातृव्या मे सबन्धवः।
असूर्तं रजो अप्यगुस्ते यन्त्वधमं तमः॥ (अथर्व० १०-३-९)

३. असौ यो अधराद् गृहस्तत्र सन्त्वराय्यः।
तत्र सेदिर्न्युच्यतु सर्वाश्च यातुधान्यः॥ (अथर्व० २-१४-३)

४. सोऽरिष्ट न मरिष्यसि न मरिष्यसि मा बिभेः।
न वै तत्र म्रियन्ते, नो यन्त्यधमं तमः॥ (अथर्व० ८-२-२४)
सर्वो वै तत्र जीवति गौरश्वः पुरुषः पशुः।
यत्रेदं ब्रह्म क्रियते परिधिर्जीवनाय कम्॥ (अथर्व० ८-२-२५)

इसी प्रकार अथर्व० ८-२-२४ के किसी भाग का अर्थ किया है—
"अत्यन्त नीच अँधेरे के लोकों में मत जा।" हमने मन्त्र २४ तथा २५
का पूरा अनुवाद कर दिया है। पतन के अँधेरे का वर्णन तो २४वें मन्त्र
में है, पर आदेश का रूप तो वहाँ है ही नहीं।

अथर्व० १०-३-९ में 'वरण' शब्द आया है जिसका अर्थ है प्रेम।
मौलाना ने 'वरुण' लिख दिया है। मौलाना लिखते हैं—"यदि आपके
विचार में नरक इस संसार में ही है तो बताएँ कि १८ से २५ मन्त्र तक
वर्णित वह अत्यन्त अधम स्थान कौन-सा है जिसे 'पाताल' कहा गया है,
जो अत्यन्त गहरा कुआँ, 'अत्यन्त अँधेरे से युक्त स्थान है' कहा गया है
कि जहाँ से कभी कोई वापस नहीं आये और उसमें भाले, गुर्ज, भयानक
सर्प, अग्नि की अत्यन्त काल तक जलानेवाली लपटें, इन्द्रदेव की हथ-
कड़ियाँ, शिकंजे, रक्त की नदी, उसमें खाने के लिए बाल और पीने के
लिए सर्प का भयानक विष है···यदि इन स्पष्ट तथा खुले प्रमाणों के
भाव और बताए जा सकते हैं तो बाइबल तथा दूसरी धार्मिक पुस्तकों
के प्रमाणों के वे भाव क्यों नहीं निकाले जा सकते हैं? यदि उनके भी
इस प्रकार भाव निकाले जा सकते हैं तो (ऋषि) दयानन्द ने सत्यार्थ-
प्रकाश के १३ तथा १४वें समुल्लास में दूसरे मतों और उनके मन्तव्यों
का खण्डन क्यों किया जबकि यह सब-कुछ उनके अपने घर में विद्यमान
था?"

—वेदों के मन्त्र अपना अभिप्राय स्वयं बताते हैं। जैसा कि हम पहले
लिख चुके हैं, बुद्धिमानों को इस विषय में कोई सन्देह नहीं हो सकता।
वेद में वर्णित नरक इसी संसार में है, वह किसी दूसरे स्थानविशेष का
नाम हो ही नहीं सकता। मौलाना से इतना निवेदन अवश्य है कि कृपया
वेद के वे शब्द बताएँ जिनका अर्थ उन्होंने 'अनन्त काल तक जलाने-
वाला' तथा 'जहाँ से कभी वापस न आये' किया है। वेद में वर्णित
'नरक' पाप के साथ-साथ चलता है; जब तक जीव पर पाप का प्रभाव
है, तब तक वह नरक में है। इस नरक का निर्माण पाप से हुआ है। पाप
ही अग्नि जलाता है और पाप ही आप अपना कुआँ खोदता है। बाइबल
तथा दूसरे साम्प्रदायिक पुस्तकों में से क़ुर्आने-शरीफ़ के कथनों का
भावार्थ बताना उस सम्प्रदाय के अनुयायियों का कार्य है, परन्तु इससे
पूर्व आप ऋषि दयानन्द का अनुकरण करते हुए नरक का स्थान इसी

संसार में तो मानिये ! वेद के इस सिद्धान्त को स्वीकार तो कीजिये कि पाप ही नरक है जो मृत्यु के पश्चात् किसी अन्य स्थानविशेष पर नहीं, अपितु वर्तमान तथा भविष्य के जन्मों में इसी अनुभूतिमय जगत् में आत्मिक, बौद्धिक तथा शारीरिक कष्टों के रूप में प्रकट होता है। इसके पश्चात् भावार्थ करने की बात होगी; यदि आप ऐसा स्वीकार नहीं करते तो आक्षेप का स्थान तो आपके कथनानुसार है ही।

त्रिविष्टप

प्रश्न—"स्वामी दयानन्द तथा आर्यसमाज का विचार है कि संसार की प्रथम उत्पत्ति (आबादी) तिब्बत में हुई। क्या आपका कोई प्रमाण किसी प्रमाणित हिन्दू शास्त्र में है ? यदि है तो प्रमाण दें, यदि नहीं है तो इस झूठ के घड़ने की क्या आवश्यकता थी ? शब्द त्रिविष्टप का अर्थ स्वामी जी ने तिब्बत किस कोश के आधार पर किया है ?"

—पता नहीं शब्द 'त्रिविष्टप' मौलाना के वर्तमान विवाद में कैसे आ गया ? वेद में तो लिखा था विष्टिप, जिसका अर्थ है स्थान। त्रिविष्टिप शब्द वेद में है ही कहाँ ? सृष्टि-उत्पत्ति कहाँ हुई, इस प्रश्न का स्वर्ग के विवाद से क्या सम्बन्ध ? परन्तु मौलाना को इससे क्या ! उन्होंने तो प्रश्न घड़ने हैं।

सृष्टि-उत्पत्ति-सम्बन्धी ऋषि दयानन्द का दृष्टिकोण समझना हो तो इसे वहाँ देखिये, जहाँ ऋषि ने इसका वर्णन किया। यदि ऋषि ने कोई प्रमाण दिया हो तो खोजिये, न दिया हो तो इसे ऋषि का अपना दृष्टिकोण समझिये। अन्य विद्वान् इस विषय पर अपनी सम्मति देते रहते हैं; ऋषि ने भी अपनी सम्मति दे दी। वह सम्मति उपयुक्त भी हो सकती है, और उसपर विवाद भी किया जा सकता है। परन्तु इसपर मौलाना इतने क्रोध में क्यों आ गये कि एक सत्यनिष्ठ व्यक्ति पर झूठ का आरोप लगा डाला ? ऋषि का विचार है कि शब्द त्रिविष्टप बिगड़-कर 'तिब्बत' बन गया है।

यह प्रश्न भाषा-विज्ञान-सम्बन्धी है। इसपर शान्त मस्तिष्क से विचार करें, गाली-गुफ़्तार से क्या अभिप्राय ? जब से त्रिविष्टप का अर्थ स्वर्ग लिया गया है, स्वर्ग की खोज हिमालय के उस पार की जाती रही है। महाभारत में वर्णित पाण्डवों की यात्रा पर ही ध्यान कर लीजिये और हिमालय के पार तिब्बत ही तो है ! वहाँ त्रिविष्टप की खोज इस तथ्य का संकेत है कि त्रिविष्टप से अभिप्राय तिब्बत से है।

आप तिब्बत शब्द का कोई मूल शब्द और बता दें, यह आपका अधिकार है। आप ऋषि के भाषा-विज्ञान पर आक्षेप कर सकते हैं, परन्तु व्यर्थ में नाराज़ क्यों हो गये ?

प्रश्न--जब सब कोशकार त्रिविष्टप का अर्थ स्वर्ग मानते हैं तो क्यों न माना जावे कि मनुष्य की सर्वप्रथम उत्पत्ति स्वर्ग (बहिश्त) में हुई थी ?

—क्या इन कोशकारों ने यह भी लिखा है कि मनुष्य की सर्वप्रथम उत्पत्ति त्रिविष्टप पर हुई थी ? अर्थ तो लेते हैं आप दूसरे कोशकारों के, और दृष्टिकोण लेते हैं स्वामी दयानन्द का ! भला भानमती के इस कुनबे में आपको क्या मिला ? कहा गया है कि 'अपनी रचना को रचयिता ही पूर्ण रूप से बता सकता है।'[1] यदि आपने ऋषि का दृष्टिकोण अपनाया है तो अर्थ भी ऋषि के ही स्वीकार कीजिये। यदि अर्थ दूसरे कोशकारों के लेते हैं तो दृष्टिकोण भी उनका मानिये। और फिर मौलाना, इसमें वेद का प्रमाण कहाँ है जिसके अनुमोदन के लिए इन कोशकारों का दृष्टिकोण लिखा है ? कृपया अपनी प्रारम्भिक प्रतिज्ञा का ध्यान रखें कि आप विवाद केवल वेद पर ही करेंगे, और उसके अनुमोदन में दूसरी पुस्तकों का प्रमाण देंगे।

*

१. तसनीफ़ रा मुसन्निफ़ नेको कुनद बयां॥

सुखी गृहस्थ

परमेश्वर की आज्ञा है—

> "तूने लोभ को समाप्त कर दिया है, सुख को प्राप्त किया है, पवित्र पुण्यलोक में पहुँच गया है, अतः मैं तुझे पैतृक पाप, जिससे तेरे सम्बन्धी अपमानित हैं, अर्थात् शत्रुता तथा उसके कष्ट से, स्वतन्त्र करता हूँ। मैं तुझे अपना ज्ञान देकर निष्पाप करता हूँ। धरती-आकाश तेरे लिए दोनों सुख देनेवाले हों।"[1]

बुरे कुल में उत्पन्न होकर भी मनुष्य स्वयं को पवित्र बना ले, तो परमात्मा उसपर अपनी दयादृष्टि डालकर अभागे को भी भाग्यशाली बना देता है।

> "जिस मार्ग पर चलकर तपस्वी लोग मोक्ष के साधन शरीर को त्यागकर सुख के लोक में पहुँचते हैं, इसी से यश के इच्छुक, यज्ञ के व्रत से, तपस्या से पुण्यलोक में पहुँचे।"[2]

यहाँ स्पष्ट रूप से शरीर को मोक्ष का साधन कहा गया है। अभिप्राय यह है कि मोक्ष का प्रारम्भ जीते-जी होता है।

> "प्रकाशयुक्त पुण्यकर्मों की शक्तिवाले महान् आत्मा को घी और दूध से तैयार करता हूँ। इससे मैं आत्मिक उन्नति के लक्ष्य पूरा करता हुआ ऊँचे आनन्द के लोक में पहुँचूँ।"[3]

घी तथा दूध का प्रयोग आत्मा को यज्ञ-कार्य के लिए तैयार करने के दृष्टिकोण से होना चाहिए। 'खुर्दन बराय ज़ीस्तन व ज़िक्र कर्दन अस्त।'—'खाना जीने तथा वार्तालाप करने के लिए खाया जाता है।'

---

१. अहा अरातिमविदः स्योनमप्यभूर्भद्रे सुकृतस्य लोके। एवाऽहं त्वां क्षेत्रियान्निर्ऋत्या जामिशंसाद् द्रुहो मुञ्चामि वरुणस्य पाशात्॥ (अथर्व० २-१०-७)

२. येन देवाः स्वरारुरुहुर्हित्वा शरीरममृतस्य नाभिम्।
तेन गेष्म सुकृतस्य लोकं घर्मस्य व्रतेन तपसा यशस्यवः॥ (अथर्व० ४-११-६)

३. विष्टारिणमोदनं ये पचन्ति नैनान् यमः परि मुष्णाति रेतः।
रथी ह भूत्वा रथयान ईयते पक्षी ह भूत्वाति दिवः समेति॥(अथर्व० ४-३४-४)

किसी पिछले अध्याय में, यज्ञ-सम्बन्धी चर्चा में हमने बताया था कि दरिद्र-से-दरिद्र व्यक्ति को भी इस कर्त्तव्य-पूर्ति का अवसर देते हुए वेद चावल के भात की आहुति देने की आज्ञा देता है। भोजन से पूर्व प्रत्येक गृहस्थ को प्रथम दूसरों को खिलाना चाहिए। यत्र-कुण्ड में भक्ष्य पदार्थ की आहुति का अभिप्राय भी यही है कि हम अपने भोजन का भागीदार सब जीवों को बनाते हैं, जो वायु के सहारे जीते हैं। 'ओदन' यज्ञ के उस भात को कहा जाता है। पारिभाषिक शब्दों में ओदन पकाने का अर्थ है 'यज्ञ करना'। प्रत्येक वह कार्य जिसका लक्ष्य संसार का उपकार है, जगत् को सशक्त बनाना है; वह कार्य यज्ञ है। विवाह पितृ-ऋण उतारने की दृष्टि से ही किया जाता है। विवाह का लक्ष्य विलासिता नहीं, अपितु एक कर्त्तव्य की पूर्ति है। ऐसा विवाह भी यज्ञ है।

गृहस्थ का वर्णन करते हुए वेद ने कहा है—"जो कुल के विस्तार का यज्ञ करते हैं (शब्दार्थ है—कुल के विस्तार का भात पकाते हैं), समय उनकी शक्ति को क्षीण नहीं होने देता। ऐसा व्यक्ति गृहस्थ होकर अपने आश्रम के कर्त्तव्यों को भली-भाँति पूर्ण करता हुआ (शब्दार्थ—रथ का सवार होकर रथ का सफ़र करता है) अपनी उड़ान से प्रकाशलोक की सैर करता है।"[1]

वेद की कथन-शैली में 'रथ' गृहस्थाश्रम को कहते हैं। यहाँ उड़ान से अभिप्राय आत्मिक उड़ान से है। इसी सूक्त के प्रथम मन्त्र में वेदमंत्रों को यज्ञ के पंख कहा गया है—

> "यज्ञों में यह विस्तृत तथा महान् यज्ञ है। कुल के विस्तार का यज्ञ करके मनुष्य स्वर्ग में प्रविष्ट होता है। मैं इस कुल के विस्तार के यज्ञ को, संसार में प्राप्त स्वर्ग को ब्राह्मणों पर अर्थ आधारित करता हूँ। मेरा यह यज्ञ नष्ट न हो। आत्म-निर्भरता की शक्ति से हरा-भरा रहे। यह (यज्ञ) मेरी सब रूप धारण करने-वाली कामधेनु बनी रहे।"[2]

---

१. एष यज्ञानां विततो बहिष्ठो विष्टारिणं पक्त्वा दिवमा विवेश ॥
(अथर्व० ४-३४-५)

२. इदमोदनं नि दधे ब्राह्मणेषु विष्टारिणं लोकजितं स्वर्गम्।
स मे मा क्षेष्ट स्वधया पिन्वमानो विश्वरूपा धेनुः कामदुघा मे अस्तु ॥
(अथर्व० ४-३४-८)

गृहस्थाश्रम को सबसे बड़ा यज्ञ कहा गया है क्योंकि उसपर कुल का आधार है। वैसे तो प्रत्येक यज्ञ के पुरोहित ब्राह्मण ही होते हैं, परन्तु गृहस्थ का कोई कर्त्तव्य देवों की सहायता तथा पथ-प्रदर्शन के बिना पूरा नहीं हो सकता। यदि गृहस्थाश्रम में संयम का अर्थ समझा जावे तो कुल बढ़ता है और सब इच्छाओं की पूर्ति होती है। वीर्य की शक्ति सचमुच अकसीर है। यही वह शक्ति है जिसका संयम हर प्रकार के शारीरिक, बौद्धिक तथा आत्मिक उन्नति के प्रयास को सफल बनाता है।

> "जो समय तथा अवसर को ध्यान में रखकर बन्दी की रक्षा करने में सहायक होता है, वह उस सुखलोक की ओर अग्रसर होता है, जहाँ शक्तिशाली दुर्बल पर कर नहीं लगाता।"[1]

यहाँ लोक शब्द का प्रयोग स्थान तथा अवसर के लिए हुआ है। किसी की रक्षा में स्थान तथा अवसर का ध्यान अवश्य रखना चाहिए। संसार की यह अवस्था सचमुच अत्यन्त सुखद अवस्था होगी, जब शक्तिशाली दुर्बल व्यक्तियों पर से कर बलपूर्वक नहीं लेंगे। निस्स्वार्थ सेवा की भावना को बढ़ावा इस अवस्था को समीप लाने का साधन है।

> "ओ आतमा ! तू पुण्यकर्मा लोगों के लोक की ओर उन्नति कर ! बुद्धिमानों के समान सब कठिनाइयों को पार कर ! पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ ईश्वर के अर्पण करनेवाले को सुख तथा सन्तोष से भर दें।"[2]

> "दानी लोग ऊँचे प्रकाश के लोकों को प्राप्त होते हैं। घोड़ा देनेवाले शोभा के साथ रहते हैं। आत्मिक प्रकाश का वितरण करनेवाले मोक्ष को प्राप्त होते हैं। ओ भाग्यशाली ! रोटी देने-वालों की आयु दीर्घ होती है।"[3]

---

१. यो ददाति शितिपादमविं लोकेन संमितम्।
स नाकमभ्यारोहति यत्र शुल्को न क्रियते अबलेन बलीयसे ॥
(अथर्व० ३-२९-३)

२. अजा रोह सुकृतां यत्र लोकः शरभो न चत्तोऽति दुर्गाण्येषः।
पञ्चौदनो ब्रह्मणे दीयमानः स दातारं तृप्त्या तर्पयाति ॥ (अथर्व० ९-५-९)

३. उच्च दिवि दक्षिणावन्तो अस्थुर्ये अश्वदाः सह ते सूर्येण।
हिरण्यदा अमृतत्वं भजन्ते वासोदाः सोम प्र तिरन्त आयुः ॥ (ऋ० १०-१०७-२)

ब्राह्मण आत्मिक ज्ञान का दाता है, क्षत्रिय घोड़े इत्यादि का, जो वीरता का चिह्न है। अन्य लोग रोटी-कपड़ा दे सकते हैं।

"आत्मा पाँच ज्ञानेन्द्रियों के साथ अर्पित हुआ पाप को दूर करके सुखलोक में ले जाता है। इससे हम प्रकाश के लोकों को प्राप्त करें।"[1]

"ओ स्त्री-पुरुषो ! इसका आरम्भ करो और अच्छी प्रकार से इसे निभाओ। सद्गृहस्थ इस लोक से अपना दायित्व निभाते हैं। जो तुमने पकी हुई आहुति अग्नि में डाली है उसकी रक्षा के लिए आगे पति-पत्नी मिलकर प्रयास करो।"[2]

विवाह के समय पति-पत्नी यज्ञ करते हैं। यह जैसे गृहस्थ के कर्त्तव्यों की पूर्ति का प्रण होता है। गृहस्थ के कर्त्तव्य-पालन के लिए उदारता की आवश्यकता होती है, आपसी प्रेम तथा संगठन की आवश्यकता होती है। इस मन्त्र में कहा है—'इस लोक को', मौलाना का अर्थ है—इस वहिश्त को; इस लोक का अर्थ यही संसार होता है। इस गृहस्थाश्रम को 'स्वर्ग' कहा गया है, परन्तु वह है यहीं—'एतं लोकम्'।

गृहस्थ से निवृत्त होकर कोई व्यक्ति वानप्रस्थ अथवा संन्यास लेता है तो वह सब ऐश्वर्य दान कर देता है। परन्तु यह तब सम्भव है, जब गृहस्थाश्रम में उनकी रुचि दान की हो और गृहस्थ में स्वयं को, ऐश्वर्य का धरोहर-रूप में रखनेवाला मानता हो। ऐसे व्यक्तियों की यह पवित्र भावना, वेद में इस प्रकार आई है—

"यह मेरा प्रकाश है, यह क्षेत्र (कर्म-क्षेत्र) से पका हुआ स्वर्णिम अमृतफल मेरा है। यह कामधेनु मेरी है। मैं इस ऐश्वर्य को ब्राह्मणों की धरोहर बनाता हूँ; पितृलोक में जाने का मार्ग ले रहा हूँ।"[3]

---

१. अजः पक्वः स्वर्गे लोके दधाति पञ्चौदनो निर्ऋतिं बाधमानः।
तेन लोकान्त्सूर्यवतो जयेम ॥ (अथर्व० ९-५-१८)

२. अन्वारभेथामनुसंरभेथामेतं लोकं श्रद्दधानाः सचन्ते।
यद्वां पक्वं परिविष्टमग्नौ तस्य गुप्तये दम्पती सं श्रयेथाम्॥ (अथर्व० ६-१२२-३)

३. इदं मे ज्योतिरमृतं हिरण्यं पक्वं क्षेत्रात् कामदुघा म एषा।
इदं धनं नि दधे ब्राह्मणेषु कृण्वे पन्थां पितृषु यः स्वर्गः॥ (अथर्व० ११-१-२८)

संसार के अनुभवों से लाभ उठाकर, और आत्मिक उन्नति को स्थिर रखते हुए कोई व्यक्ति विरक्त हो, तो उसे अपना ऐश्वर्य संसार के उपकार में लगा देना चाहिए। ब्राह्मण इस धनरूपी धरोहर को धरोहर-रूप में रखनेवाले होते हैं। मन्त्र में ब्राह्मणों को यह धन धरोहर-रूप में देने को कहा है; सदा के लिए देने को नहीं। मन्त्र में शब्द 'स्वर्ग' मार्ग की विशेषता के रूप में आया है। 'स्व' का अर्थ प्रकाश अथवा सुख, स्वर्ग का अर्थ जाना, अर्थात् प्रकाश का मार्ग। यहाँ स्वर्ग को स्थानविशेष कैसे बनाया जावेगा?

प्रश्न—ब्राह्मणों को खीर खिलाने, दान इत्यादि देने से बहिश्त (स्वर्ग) कैसे प्राप्त हो सकता है? (पृष्ठ ५६-६६)

उत्तर—यह प्रश्न खीर खिलानेवालों से पूछिये; वेद में इसका वर्णन कहाँ है? वेद का कोई शब्द या वाक्य बता दें, जिसमें ब्राह्मणों को खीर खिलाने का संकेत हो? हाँ, किसी सनातनी मित्र से छेड़ की सूझी हो तो और बात है। अथर्ववेद का यह मन्त्र देखिये—

> "ओ आत्मिक प्रकाश के पुत्र! तुझे प्रकाशित किया गया है। तू तपस्या से प्रकाश-युक्त हो। ओ विद्वान्! पवित्र प्रकाश के पुञ्जों को यहाँ ला। ओ सर्वज्ञ! उन्हें हम यज्ञ के लिए निमंत्रित करें। इस सेवक को सुखलोक (के सोपान पर) चढ़ा।"[1]

यहाँ चढ़ना या चढ़ाना वैसा ही है, जैसा गीता में योगारूढ़ होना। एक योगी सब दिशाओं पर दृष्टि डालकर कहता है—

> "ओ पूर्व दिशा! तू प्रकाशयुक्त है। तेजस्वी ब्रह्मचारी तेरे स्वामी हैं। प्रकाश का स्रोत ईश्वर आपदाओं के भार को दूर करनेवाला है। त्रिवृत स्तोम (सामवेद का एक गान) तुझे धरती पर सम्भाले रक्खे। अनादि परमेश्वर का स्तुतिगान तुझे स्थिर रक्खे। रथन्तर साम (साम का एक गान) तुझे अन्तरिक्ष में सहारा दे। ऋषि-लोक तुझे अध्यात्म का महान् धन दें। सबपर शासन करनेवाला, सबका स्वामी और वह स्तुतिगान और ऋषि सब

---

१. अग्नेऽजनिष्ठा महते वीर्याय ब्रह्मौदनाय पक्तवे जातवेदः। सप्तऋषयो भूतकृतस्ते त्वाजीजनन्नस्यै रयिं सर्ववीरं नि यच्छ॥ (अथर्व० ११-१-३)

मिलकर यज्ञकर्ता को सुखद तथा प्रकाशलोक में बसाएँ।"[१]

इसी प्रकार अन्य दिशाओं को भी सम्बोधित किया गया है। जो व्यक्ति स्वयं परमेश्वर के ध्यान में मग्न है, उसे सब दिशाओं में वेदमन्त्र तथा ऋषि-वचन ही सुनाई दे रहे हैं। उसकी दृष्टि में वही सारे विश्व को सहारा देकर सम्भाले हुए है। वस्तुतः राजा, प्रजा, दोनों का कर्त्तव्य है कि इस प्रकार जीवन-यापन करें—

> "हम दोनों, राजा तथा प्रजा, चार पदार्थों (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) को फैलाएँ। स्वर्गलोक में (स्थित प्रजा को) ढाँप दें, सुख की वर्षा करनेवाला योगी, जो शक्ति देता है, वह शक्ति दे।"[२]

यह मन्त्र उन मन्त्रों में से एक है जिसके महीधर द्वारा किये अशुद्ध अर्थ का खण्डन ऋषि दयानन्दजी ने 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' में शतपथ के प्रमाण से किया है, और शुद्धार्थ भी शतपथ ब्राह्मण के प्रमाण के आधार पर दिया है। मौलाना यहाँ पर शास्त्रचर्चा कर रहे हैं आर्यों से, और भाष्य दे रहे हैं महीधर का। क्या विचित्र बात है! इस महीधर-भाष्य को ग्रिफ़िथ साहब ने आंग्ल भाषा में देते हुए उसके आगे के कुछ मन्त्रों का भाष्य नहीं दिया, क्योंकि महीधर का उन मन्त्रों का भाष्य अश्लील है। मौलाना ने ग्रिफ़िथ का वह भाग भी नक़ल कर दिया है, और महीधर द्वारा किया अर्थ भी लिख दिया है। आख़िर ऐसा क्यों? यदि आपको ऋषिकृत अर्थ स्वीकार नहीं था तो उसपर विवाद करते! वे अर्थ अशुद्ध सिद्ध होते तो दूसरे भाष्य का सहारा लेते। मन्त्र में शब्द आया है 'चतुरः पदः', मौलाना अर्थ फ़रमाते हैं-- 'अपने चारों पाँव'; भला पूछिये कि 'अपने' किस शब्द का अर्थ किया है? संस्कृत में चार पदार्थ प्रसिद्ध हैं। पदार्थ का अर्थ है—पद, अर्थात् प्राप्त करने योग्य, तथा अर्थ अर्थात् वस्तु। वेद ने पदार्थ के स्थान पर पद

---

१. राज्ञ्यसि प्राची दिग्वसवस्ते देवा ऽ अधिपतयोऽग्निर्हेतीनां प्रतिधर्त्ता त्रिवृत् त्वा स्तोमः पृथिव्या॑ श्रयत्वाज्यमुक्थमव्यथायै॑ स्तभ्नातु रथन्तर॑ साम प्रतिष्ठित्याऽ अन्तरिक्ष ऽ ऋषयस्त्वा प्रथमजा देवेषु दिवो मात्रया वरिम्णा प्रथन्तु विधर्त्ता चायमधिपतिश्च ते त्वा सर्वे संविदाना नाकस्य पृष्ठे स्वर्गे लोके यजमानं च सादयन्तु ॥ (यजुः० १५-१०)

२. ता ऽ उभौ चतुरः पदः संप्रसारयाव। स्वर्गे लोके प्रोर्णुवाथां वृषा वाजी रेतोधा रेतो दधातु ॥ (यजुः० २३-२०)

लिख दिया, अर्थात् शब्द 'अर्थ' वस्तु को नहीं लिखा, परन्तु अर्थ तो वही रहे! यहाँ विषय राजा-प्रजा का है। शतपथ ब्राह्मण १३-२-९ के देखने से स्पष्ट हो जाता है कि राजा तथा प्रजा को प्राप्तव्य यही चार पदार्थ हैं। शतपथ २-७-२३ में कर्मों के कुल जोड़ का वर्णन इस प्रकार है—"मनुष्य जो शुभ कर्म करता है वे यज्ञ की वेदी के अन्दर (यज्ञ में सम्मिलित) हैं; जो पाप-कर्म करता है, वे वेदी के बाहिर हैं (यज्ञ में सम्मिलित नहीं)। परलोक में उसका तोल होगा। जो पलड़ा भारी होगा, उसी के अनुसार उसे सुख-दुःख प्राप्त होगा, चाहे वह शुभ कर्मों का पलड़ा हो, चाहे अशुभ कर्मोंवाला पलड़ा। जो इस तथ्य से परिचित है वह इस जीवन में ही इस तराजू पर तुल जाता है, दूसरे जीवन में तोले जाने से बच जाता है क्योंकि उसके शुभ कर्मों का पलड़ा भारी होता है, अशुभ कर्मों का नहीं।"

शतपथ के इन वचनों पर कुछ और लिखने की आवश्यकता नहीं। इन प्रमाणों को लिखने के पश्चात्, मौलाना लिखते हैं—"परन्तु यह शुभाशुभ कर्म वेदशास्त्र द्वारा कथित सबके लिए समान नहीं है। ब्राह्मण को स्वर्ग दिलानेवाले कर्म और होते हैं, क्षत्रिय के कर्म अलग होते हैं, वैश्य के और, तथा स्त्री एवं शूद्र के और होते हैं (पृष्ठ-६१)।"

—संसार में कर्मों (कर्त्तव्यों) का विभाजन तो शक्ति, परिस्थिति तथा अवसर के अनुसार होता है; सब मनुष्य एक ही कार्य तो नहीं करते। पढ़ानेवाले तथा यज्ञ करानेवाले और लोग हैं, देश-रक्षा करनेवाले और हैं, व्यापारी-वर्ग जुदा होता है, खेती करनेवाले और होते हैं, और इन सब कार्यों में किसी भी कार्य के अयोग्य, केवल सेवाकार्य करनेवाला जनसमूह और होता है। पुरुषों के समान कार्यों का यह विभाजन स्त्रियों में भी होता है। वेद की विशेषता तो इसी में है कि कर्त्तव्यों की इस विविधता में भी स्वर्गद्वार सबके लिए समान रूप से खुला है। स्वर्ग के लिए तो हृदय की पवित्रता की शर्त है। जो व्यक्ति उपकार के किसी भी कार्य को सत्यता से, केवल यज्ञ-भावना से करता है, वह स्वर्गलोक का अधिकारी है। उसका इहलोक और परलोक दोनों सँवर जाएँगे। इसी दृष्टिकोण को वेद ने यूँ कहा है—

"वेद के प्रचार के लिए ब्राह्मण, राज्य (दुःखी की रक्षा) के लिए क्षत्रिय, व्यापार के लिए वैश्य तथा परिश्रम (शारीरिक श्रम)

के लिए शूद्र···।"[१]

इसी विचार को श्री कृष्ण ने अर्जुन को इस प्रकार दिया था—"अपने कर्म को दृष्टि में रखते हुए तुझे (कर्त्तव्य-पथ से) विचलित नहीं होना चाहिये। धर्म-युद्ध के अतिरिक्त क्षत्रिय के लिए अन्य कोई पुण्य नहीं॥ यह स्वर्ग-द्वार भाग्य से खुला मिला है, ओ अर्जुन! भाग्यशाली क्षत्रिय ही इस प्रकार के युद्ध (का अवसर) प्राप्त करते हैं॥"[२]

"यदि तू मारा गया तो (दूसरे जन्म में) स्वर्गलोक को प्राप्त करेगा, विजयी हुआ तो राज्य का आनन्द उठायेगा, अतः ओ कुन्तीपुत्र! युद्ध का दृढ़ निश्चय करके उठ।"[३]

"अपना कर्त्तव्य त्रुटिपूर्ण भी हो, तो भी दूसरे के अच्छी प्रकार निभाये कर्त्तव्य से श्रेष्ठ होता है। जो स्वाभाविक दायित्व हो, उसे पूरा करता हुआ मनुष्य पापी नहीं बनता।"[४]

"मनुष्य अपने स्वाभाविक कर्त्तव्य कर्म को (चाहे वह तुच्छ भी हो, मत त्यागे) ओ कुन्ती पुत्र! कर्म में त्रुटि रहना स्वाभाविक है जैसे अग्नि में धुआँ।" (गीता १८-४८)

अभिप्राय यह है कि जिसका स्वभाव ब्राह्मणत्व की ओर हो उसे ब्राह्मण बनाया जावे, जिसकी रुचि में क्षत्रिय धर्म जँचे उसे क्षत्रिय बना दें, इसी प्रकार स्वाभाविक रुचि से वैश्य तथा शूद्र बनें। जब एक बार कर्तव्य-कर्म निश्चित हो गया तो अवसर आने पर किसी को उससे विचलित न होना चाहिये, जैसे युद्ध-क्षेत्र में अर्जुन युद्ध से भागने लगा था।

---

१. ब्रह्मणे ब्राह्मणं, क्षत्राय राजन्यं, मरुद्भ्यो वैश्यं, तपसे शूद्रम्। (यजु:० ३०-५)

२. (क) स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते॥ (गीता २-३१)

(ख) यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम्।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम्॥ (गीता २-३२)

३. हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं, जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय, युद्धाय कृतनिश्चयः॥ (गीता २-३७)

४. श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्॥ (गीता १८-४७)

मौलाना ने अपनी पुस्तक के प्रथम पृष्ठ पर विषय-सूची के नीचे एक नोट लिखा है (हम नहीं समझे कि वहाँ इस नोट को लिखने का क्या अवसर था), फिर भी वह नोट है ध्यातव्य। अतः हम उसे यहाँ लिख रहे हैं—

"नोट—**इस पुस्तक के सारे प्रमाण वेदों में से दिये गए हैं। दूसरी पुस्तकों के प्रमाण अनुमोदन-स्वरूप लिखे हैं।**"

पुस्तक के पृष्ठ ७४ पर मनु का प्रमाण देकर मौलाना लिखते हैं—"अतः स्त्री को स्वर्ग-प्राप्ति के लिए धर्मशास्त्र के अनुसार भक्ति, ध्यान तथा दूसरे शुभ कर्मों के करने की आज्ञा सर्वथा नहीं है। उसको केवल पति की सेवा से स्वर्ग को प्राप्त करना चाहिये।" (पृष्ठ ७४)

मौलाना! क्या सचमुच मनु के ये श्लोक वेद के अनुमोदन में हैं? यदि ऐसा है तो वे वेदमन्त्र कहाँ हैं जिनमें स्त्रियों को भक्ति तथा शुभ कर्मों के करने की आज्ञा न दी गई हो? आप जानते हैं कि आर्यसमाज मनुस्मृति तथा दूसरे मनुष्यकृत ग्रन्थों का प्रमाण तब मानता है जब वे वेदानुकूल हों। आपने भी इस विचार से पुस्तक के आरम्भ में नोट लिख दिया; फिर क्या पुस्तक लिखते समय वह प्रतिज्ञा भूल गये?

जन्नाते अदन···(सूरत राद आयत २३) अर्थ—"**सदा रहनेवाले बाग़, उनमें वे प्रविष्ट होंगे और वे जो पुण्य-कार्य करते हैं और उनकी पत्नियाँ और सन्तान।**"

मौ० मुहम्मद अली इसकी व्याख्या इंग्लिश भाषा में करते हुए लिखते हैं—"यह वर्णन इस बात को स्पष्ट करता है कि स्त्रियाँ केवल अपने कर्मों से स्वर्ग-सुख नहीं उठाएँगी, अपितु उनके पति की शुभकृति भी उन्हें इस आनन्द का अधिकारी बनायेगी।"

प्रश्न—जात-पात के आधार पर स्वर्ग-प्राप्ति के जुदा-जुदा नियम निश्चित करना क्या मानव-समाज के गले पर छुरी चलाना नहीं? क्या इस अत्याचारपूर्ण, शिक्षा से बढ़कर कोई बर्बर शिक्षा हो सकती है?

मौलाना! आपने जो प्रमाण दिये हैं उनसे तो यही सिद्ध होता है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने कर्त्तव्य-कर्म को करता हुआ स्वर्ग का अधिकारी है। यह बात अत्याचारपूर्ण और बर्बर कैसे हो गई? आख़िर इसमें तिलमिलाने की क्या आवश्यकता है? क्या वेद का यह भी अपराध है

कि आपको उसपर आक्षेप का अवसर ही नहीं मिलता ? यदि आपको वेद पर कोई आक्षेप नहीं सूझता तो न सही, फिर एक और पुस्तक लिख देना। यूँ अपने-आपे से बाहिर होना तो आपको शोभा नहीं देता ? वेद में जात-पात नहीं है, इससे आपका क्या बिगड़ा ?

प्रश्न—स्वर्ग तथा धरती का जो फ़ासला (अन्तर) पृष्ठ ६२-६४ पर प्रामाणिक पुस्तकों के आधार पर वर्णन किया गया है, आर्यसमाज उसे स्वीकार करता है अथवा नहीं ? यदि नहीं तो क्यों ? यदि स्वीकार करता है तो बताएँ यह उपयुक्त है या अनर्गल प्रलाप है ?

मौलाना साहब ! आप अपनी प्रारम्भिक प्रतिज्ञा को ध्यान में रखिए। वेद का प्रमाण दीजिए, फिर उसके उत्तर का आग्रह कीजिए। आर्यसमाज दूसरी पुस्तकों का प्रमाण तब मानता है जब वे वेदानुकूल हों (नहीं तो नहीं)।

प्रश्न—अन्तिम दिवस (आख़रत के दिन) कर्मों का तोला जाना, देवताओं का मनुष्यों के कर्मों को लिखना, इस सम्बन्ध में जो प्रमाण दिये हैं, आर्यसमाज उन्हें स्वीकार क्यों नहीं करता ?

मौलाना साहब ! यह वेदों का बहिश्त है या दूसरी पुस्तकों का ? वर्णन का अलंकृत रूप वहाँ कहा जा सकता है, परन्तु विवाद तो वेदों के प्रमाणों पर है, अन्य पुस्तकों के प्रमाणों पर तो विवाद नहीं ?

*

मुक्ति-लोक

इन्द्रियों से ग्राह्य यह भौतिक जगत् अपने-आपमें न बुरा है और न भला। रही यह बात कि मनुष्य इससे लाभ उठायेगा कि हानि, यह बात मनुष्य की अपनी मानसिक स्थिति पर निर्भर करती है। वेद में दो प्रकार के मनुष्य माने गये हैं—देवता, शुभकर्मों का जिन्हें सुअवसर प्राप्त है। मोह, लोभ, अहंकार इत्यादि लुटेरे उनसे यह अवसर छीन नहीं सकते। वेद में कहा है—

> "यह संसार देवताओं को अत्यन्त प्रिय है; इसे वे खोते नहीं। ओ मनुष्य ! तू देवताओं का अनुकरण करने के लिए जन्म लेता है, और मृत्यु तेरी अवश्यम्भावी है, अतः तुझे हम जगाते हैं, बुढ़ापे से पूर्व न मरना।"[1]

भाव यह है कि जीवन मूल्यवान् है। तू देवताओं का जीवन जी ! यही तेरे संसार में आने तथा आवागमन के चक्कर में पड़ने का लक्ष्य है। पूरा स्वाभाविक जीवन जी ! जीवन के असली लक्ष्य को मत भुला ! यह जीवन पापों में नष्ट किये जाने के लिए नहीं है।

इसके विपरीत, दूसरा दल दस्युओं अर्थात् पापकर्मा मनुष्यों का है। उनके लिए भी यही संसार है, परन्तु वे इससे लाभ न उठाकर इसे अपने बन्धन का कारण बना लेते हैं। जहाँ देवताओं को यहाँ आनन्द प्राप्त होता है, वहाँ पापी राक्षस अपने दुष्कृत्यों के जाल में फँस जाता है। कोई लाख प्रयत्न करे, वे इस कर्मभोग-चक्र से बच नहीं सकते। वेद में कहा है—

> "ओ प्रकाशस्वरूप शक्तिमान् ! तेरी शक्ति अनन्त है, महिमा असीम है, तेरा जाल भी बड़ा है, इससे तू जो शक्तिमान् है सैकड़ों,

---

१. अयं लोकः प्रियतमो देवानामपराजितः। यस्मै त्वमिह मृत्यवे दिष्टः पुरुष जज्ञिषे। स च त्वानु ह्वयामसि मा पुरा जरसो मृथाः॥ (अथर्व० ५-३०-१७)

सहस्रों, अर्बों, खर्बों (दुष्टों) को तू नीचा दिखाता है (जैसे सेना के बल से नीचा दिखाता है)''[1]

परमात्मा कहता है--''यह जगत् मुझ सर्वशक्तिमान् का बड़ा जाल है, इस मायावी जाल के अँधेरे में मैं सबको परास्त करता हूँ।''[2]

एक ही संसार के दो विरोधी स्वरूप ! कितने आश्चर्य का विषय है ! पापी इस संसार में अपने बन्धनों को बढ़ाता है; पवित्रात्मा इसके सदुपयोग से अध्यात्म-मार्ग को उन्नत तथा सुखद बनाता है। जिन पुष्पित विकसित उद्यानों में मद्यप अपने ज्ञान का नाश कर अपने अपमान का सामान जुटाता है; वहाँ कवि सादी (फ़ारसी के एक महान् कवि) के अनुसार वृक्ष का प्रत्येक पत्र, पुष्प, देखनेवाले के लिए परमेश्वर की महिमा का भण्डार लिये खड़ा है; यह सब अपने कर्मों का ही परिणाम है। परमेश्वर तो सबको जानता है, मनुष्य का साधारण-से-साधारण कर्म भी उस सर्वद्रष्टा के ज्ञान में है। मनुष्य पर जो परिस्थितियाँ आती हैं, वे सब उसके अपने कर्मों का फल हैं। परमेश्वर का नियम अटल है। उसके अनुसार प्रत्येक को अपने कर्म का फल स्वयमेव प्राप्त हो जाता है—इस लोक में मिले अथवा दूसरे लोक में आवागमन के चक्कर में मिले, कि मुक्ति काल में, मिलेगा अवश्य। वेद का कथन है—

''पवित्रात्मा भक्त तथा सन्मार्ग के अविचलित राही, सब उस सर्वद्रष्टा की दृष्टि में हैं। यह लोक तथा उन्नततम लोक, सब सुख तथा पवित्रता के लोक और उनके विभिन्न स्तर, ये सब लोक अपने आधीन रखकर वह महान् नियन्ता अत्यन्त पवित्रता तथा न्याय से कार्य कर रहा है।''[3]

---

१. बृहत् ते जालं बृहत इन्द्र शूर सहस्रार्घस्य शतवीर्यस्य।
तेन शतं सहस्रमयुतं न्यर्बुदं जघान शक्रो दस्यूनामभिधाय सेनया॥
(अथर्व० ८-८-७)

२. अयं लोको जालमासीच्छक्रस्य महतो महान्।
तेनाहमिन्द्रजालेनामूंस्तमसाभि दधामि सर्वान्॥ (अथर्व० ८-८-८)

३. कालेऽयमङ्गिरा देवोऽथर्वा चाधि तिष्ठतः। इमं च लोकं परमं च लोकं पुण्यांश्च लोकान् विधृतीश्च पुण्याः। सर्वांल्लोकानभिजित्य ब्रह्मणा कालः स ईयते परमो नु देवः॥ (अथर्व० १९-५४-५)

यहाँ एक लोक नहीं, कई लोकों का वर्णन है। जैसे पवित्रता के मार्ग में स्तर हैं, वैसे ही उसके फल के भी स्तर हैं। सर्वोच्च पद तो मोक्ष-पद है। किसके भाग्य में कौन-सा लोक दिया जाना है, इसे वह सर्वद्रष्टा, सर्वनियन्ता ही जानता है। वह इस पवित्र कार्य को अत्यन्त पवित्रता से कर रहा है। यह वह न्याय का सिंहासन है, मनुष्य जिसका अनुकरण करना तो चाहता है, परन्तु पूर्णरूपेण कर नहीं सकता।

मौलाना ने इस मन्त्र का एक भाग ही लिया है—यह लोक और वह उत्तम लोक। सम्भवतः इससे वह यह सिद्ध करना चाहते हैं कि स्वर्ग इस धरती से परे है। परन्तु यहाँ तो लोकों की सीमा नहीं। ये विभिन्न अवस्थाएँ हैं, जो मनुष्य पर उसके कर्मफल-स्वरूप आती हैं। मुक्ति-(मोक्ष)-लोक के सम्बन्ध में वेद का कथन है—

"जहाँ निरन्तर प्रकाश है, सर्वदा आनन्द है, ओ पवित्रता प्रदान करनेवाले ईश्वर! मुझे उस मोक्षलोक में स्थान दे। ओ शक्ति के स्रोत! मेरी आत्मा पर हर ओर से आनन्द की वर्षा कर।"[1]

"जहाँ सर्वोच्च प्रकाशस्वरूप ईश्वर का राज्य है, जहाँ प्रकाश की चरम सीमा है, जहाँ सम्पूर्ण की प्राप्ति होती है, उस लोक में मुझे मोक्षपद प्रदान कर। ओ शक्ति के स्रोत! मेरी आत्मा पर हर ओर से आनन्द की वर्षा कर।"[2]

"जहाँ स्वेच्छा से विचरण है, उत्कृष्ट आत्मिक प्रकाश और आनन्द है, उस लोक में जहाँ अवस्थाएँ सर्वथा प्रकाशयुक्त हैं, मुझे उस लोक में मोक्षपद दे। ओ प्रकाश के स्रोत! इस आत्मा पर हर ओर से आनन्द की वृष्टि कर।"[3]

---

१. यत्र ज्योतिरजस्रं यस्मिल्लोके स्वर्हितम्।
तस्मिन्मां धेहि पवमानाऽमृते लोके अक्षित इन्द्रायेन्दो परि स्रव॥
(ऋ० ९-११३-७)

२. यत्र राजा वैवस्वतो यत्रावरोधनं दिवः।
यत्रामूर्यह्वतीरापस्तत्र माममृतं कृधीन्द्रायेन्दो परि स्रव॥ (ऋ० ९-११३-८)

३. यत्रानुकामं चरणं त्रिनाके त्रिदिवे दिवः।
लोका यत्र ज्योतिष्मन्तस्तत्र माममृतं कृधीन्द्रायेन्दो परि स्रव॥
(ऋ० ९-११३-९)

"जहाँ जिज्ञासु जिज्ञासा के आनन्द में है, जहाँ के अस्तित्व में स्थिरता है, जहाँ आत्मज्ञान की मस्ती है, तृप्ति है, उस लोक में मुझे मोक्ष प्रदान कर। ओ प्रकाश के स्रोत! इस आत्मा पर चहुँ ओर से प्रकाश की वर्षा कर।"[1]

"जहाँ सुख है, आनन्द है, मस्ती है, तृप्ति है, जहाँ अभीष्ट कामनाएँ पहले से ही पूर्ण हो चुकी हैं, उस लोक में मुझे मोक्ष दे। ओ प्रकाश तथा आनन्द के केन्द्र! इस आत्मा पर हर ओर से सुखों की वर्षा कर।"[2]

मोक्ष-प्राप्ति का रहस्य आत्म-समर्पण में है। वेद के कथन-अनुसार—

"अनादि आत्मा एक प्रकाश का पुञ्ज है; अनादि आत्मा को प्रकाश कहते हैं; इस अनादि आत्मा को जीवन में ही ईश्वर के अर्पण करने की वस्तु कहा गया है। इसी लोक में पवित्र व्यक्तियों को अर्पित की गई यह अनादि आत्मा सब अन्धकार को दूर कर देती है।"[3]

जान दी हुई उसी की थी,
हक़ तो यह है कि हक़ अदा न हुआ।

कुश्तगाने ख़ंजरे तसलीम रा, हर ज़मां अज़ ग़ैब जाने दीगर अस्त।

आगे फिर कहा है—

"ऐ पितरो! यह तुम्हारा प्रकाश सर्वोत्तम प्रकाश है। जो पाँचों ज्ञानेन्द्रियों-सहित आत्मा को ईश्वर के अर्पित करता है, इस संसार में ऐसे सच्चे मनुष्य का भेंट किया हुआ अनादि आत्मा सब

---

१. यत्र कामा निकामाश्च यत्र ब्रध्नस्य विष्टपम्।
स्वधा च यत्र तृप्तिश्च तत्र माममृतं कृधीन्द्रायेन्दो परि स्रव।।
(ऋ० ९-११३-१०)

२. यत्रानन्दाश्च मोदाश्च मुदः प्रमुद आसते।
कामस्य यत्राप्ताः कामास्तत्र माममृतं कृधीन्द्रायेन्दो परि स्रव।।
(ऋ० ९-११३-११)

३. अजो अग्निरजमु ज्योतिराहुरजं जीवता ब्रह्मणे देयमाहुः।
अजस्तमांस्यप हन्ति दूरमस्मिंल्लोके श्रद्दधानेन दत्तः।। (अथर्व० ९-५-७)

अन्धकार को दूर कर देता है।"[1]

मोक्ष की यह अवस्था मृत्यु के पश्चात् नहीं, इसी जीवन में प्राप्त होती है। प्रथम मन्त्र में कहा—"जीते-जी अपनी आत्मा को ईश्वर के अर्पण करना चाहिए।" दूसरे मन्त्र में इस भाव को पुनः कहा—"सच्चे हृदय से भेंट किया आत्मा इस लोक में अन्धकार को मिटा देता है। जहाँ मनुष्य ईश्वरार्पित हुआ, उसे मोक्ष का आनन्द प्राप्त हो गया।"

ब्राह्मण की गौ का वर्णन इससे पूर्व हो चुका है। गौ धरती अथवा देश है, जिसके स्वामी सब देवता हैं, अर्थात् वे ब्राह्मण जिन्होंने अपना ज्ञान, वे क्षत्रिय जिन्होंने अपना शौर्य, वे वैश्य जिन्होंने अपना धन, और वे शूद्र जिन्होंने अपनी सेवा ईश्वर के अर्पण कर दी है, उन देवताओं का प्रतिनिधि कोई श्रेष्ठ ब्राह्मण (ईश्वरार्पित) होता है, वह इन देवताओं की माँग राजा के सम्मुख रखता है। राजा उस गौ को धरोहर-रूप में रखता है। वेद का कथन है—

"ब्राह्मण की गौ, खाई हुई इहलोक तथा परलोक दोनों से भक्षक को वंचित कर देती है। जो ब्राह्मण को कष्ट देता है उसके दोनों लोक नष्ट हो जाते हैं।"[2]

अर्थात् 'यदि राजा राज्य-कार्य में असत्य का व्यवहार करे, और कोई प्रजा का प्रतिनिधि राजा के सम्मुख प्रजा से अधिकारों को माँगे और वह उसको कष्ट दे, तो ऐसे राजा का यह जन्म तथा दूसरा जन्म दोनों नष्ट हो जाते हैं।' संस्कृत भाषा की तो बात अलग, जन-भाषा में भी दूसरे जन्म को परलोक कहते हैं। मौलाना ने यहाँ दो लोकों के वर्णन से यह समझा है कि एक लोक तो यह संसार है और दूसरा लोक किसी अन्य स्थान पर है। मौलाना ! मृत्यु से पूर्व इस जीवन को **इहलोक** तथा मृत्यु के पश्चात् की अवस्था को चाहे वह दूसरे जन्म के रूप में हो, अथवा मोक्ष के रूप में हो, **परलोक** कहते हैं। ये शब्द हिन्दी तथा संस्कृत दोनों भाषाओं में प्रचलित हैं, जो वेद के आधार पर चला। वेद

---

१. एतद् वो ज्योतिः पितरस्तृतीयं पञ्चौदनं ब्रह्मणेऽजं ददाति।
अजस्तमांस्यप हन्ति……॥ (अथर्व० ९-५-११)

२. …अशिता लोकाच्छिनत्ति ब्रह्मगवी ब्रह्मज्यमस्माच्चामुष्माच्च॥
(अथर्व० १२-५-३८)

का काव्यमय कथन ध्यातव्य है—

"ईश्वर दुष्ट को लेकर उस लोक में (दूसरे जन्म में) दुःखी के अर्पित कर देता है।"[१]

यह मन्तव्य तो इतना लोकप्रिय है कि इस बात को ही नगरों तथा देहातों के वैदिक धर्मी बात-बात में दोहराते हैं—

"आत्मिक आनन्द के लोक में अर्थात् सर्वोत्तम आनन्द तक पहुँचा देता है। पाँचों इन्द्रियों के साथ अर्पित आत्मा सब सुखों को धारण करनेवाली कामधेनु है।"[२]

आत्मिक प्रकाश को 'त्रिदिव' तथा आत्मिक आनन्द को 'त्रिनाक' कहते हैं। प्रकाश एक तो भौतिक होता है, दूसरा बौद्धिक तथा तीसरा आत्मिक, अर्थात् आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक। इसी प्रकार आनन्द मोक्ष, तीसरा अर्थात् आत्मिक प्रकाश तथा आनन्द होता है। ऋग्वेद में कहा है--

"उस प्रकाश के पुञ्ज ईश्वर ने उषाओं को जैसे अच्छी यज्ञ करनेवाली गृहिणियाँ बनाया, सूर्य में प्रकाश स्थापित किया, उसने तीन प्रकार के प्रकाशों में तीन शक्तियाँ निहित कीं, तीन प्रकार की सृष्टि में अज्ञात लोक में अनश्वर होकर रहा है।"[३]

चतुष्पाद् ईश्वर की महिमा का वर्णन इससे पूर्व हो चुका है। अध्यात्म का प्रथम पद इस दृश्य जगत् में ईश्वर के दर्शन करना है; दूसरा पद कल्पना-लोक में ईश्वर के दर्शन हैं; तीसरा पद समाधि में भगवद्दर्शन का है; चौथा नेति-नेति की स्वीकृति है। प्रथम तीन के सम्बन्ध में वेद का कथन है—

"यह उसकी महान् महिमा को प्रकट करते हैं। मनुष्य माता-पिता का आश्रय (जन्म) शक्ति प्राप्त करने को लेता है। परमात्मा का पुत्र ज्ञान तथा शक्ति की वृद्धि साथ-साथ ईश्वर की प्रथम,

---

१. आदाय जीतं जीताय लोकेऽमुष्मिन् प्र यच्छसि। (अथर्व० १२-५-५७)

२. अजस्त्रिनाके त्रिदिवे त्रिपृष्ठे नाकस्य पृष्ठे ददिवांसं दधाति।
पञ्चौदनो ब्रह्मणे दीयमानो विश्वरूपा धेनुः कामदुघास्येका॥
(अथर्व० ९-५-१०)

३. अयमकृणोदुषसः सुपत्नीरयं सूर्ये अदधाज्ज्योतिरन्तः।
अयं त्रिधातु दिवि रोचनेषु त्रितेषु विन्ददमृतं निगूळहम्॥ (ऋ० ६-४४-२३)

द्वितीय तथा तृतीय महत्ता का ज्ञान भी प्राप्त कर लेता है।"[1]

"मनुष्य आतम-चक्षु के पग उस ज्ञान-लोक में बढ़ाता है। तीसरा पग अद्वितीय है; पशु-पक्षी उस अवस्था को कहाँ पहुँच सकते हैं!"[2]

दृश्य लोक तथा कल्पना-जगत् तो पशु-पक्षियों के लिए हैं, परन्तु समाधि केवल मनुष्य के भाग्य में है।

"सहस्र धाराओं वाले (आत्मिक) जगत् में बरबस, प्रजा से युक्त चारों दिशाएँ, प्रकाश की रक्षा में नियुक्त, प्रकाश को टपकाती-टपकाती अमृत की भेंट लाती हैं।"[3]

"सत्ययुक्त वाणी मधु-जैसा मीठा वचन मुख पर लाती है। ऐसे वचनों का वक्ता किसी से दबाया नहीं जा सकता। परमेश्वर का पुत्र परमेश्वर और उसकी शक्ति के गुप्त रहस्यों को जानता है। यह प्रभाव ज्ञान की उन्नति (वृद्धि) का होता है।"[4]

इस मन्त्र में ईश्वर तथा उसकी शक्ति को क्रमशः पिता और माता कहा गया है। इस तथ्य की व्याख्या किसी पिछले अध्याय में हो चुकी है। जीवन एक धरोहर है; वेद कहता है—

"धरोहर की रक्षा करनेवाला, निधि की इच्छा कर सकता है। जो लोक धरोहर की रक्षा नहीं करते, हर ओर से वे ईश्वर से रहित हो जावेंगे। हमारा अपना दिया हुआ स्वर्ग (प्रकाश) तीन प्रकार का होकर तीन प्रकार के लक्ष्यों को पूरा कर गया है।"[5]

---

१. ता ईं वर्धन्ति मह्यस्य पौंस्यं नि मातरा नयति रेतसे भुजे।
दधाति पुत्रोऽवरं परं पितुर्नाम तृतीयमधि रोचने दिवः॥ (ऋ० १-१५५-३)

२. द्वे इदस्य क्रमणे स्वर्दृशोऽभिख्याय मर्त्यो भुरण्यति।
तृतीयमस्य नकिरा दधर्षति वयश्चन पतयन्तः पतत्रिणः॥ (ऋ० १-१५५-५)

३. सहस्रधारेऽव ता असश्चतस्तृतीये सन्तु रजसि प्रजावतीः।
चतस्रो नाभो निहिता अवो दिवो हविर्भरन्त्यमृतं घृतश्चुतः॥ (ऋ० ९-७४-६)

४. ऋतस्य जिह्वा पवते मधु प्रियं वक्ता पतिर्धियो अस्या अदाभ्यः।
दधाति पुत्रः पित्रोरपीच्यं नाम तृतीयमधि रोचने दिवः॥ (ऋ० ९-७५-२)

५. निधिं निधिपा अभ्येनमिच्छादनीश्वरा अभितः सन्तु येऽन्ये।
अस्माभिर्दत्तो निहितः स्वर्गस्त्रिभिः काण्डैस्त्रीन्त्स्वर्गानरुक्षत्॥
(अथर्व० १२-३-४२)

सुख एक तो शारीरिक होता है, दूसरा बौद्धिक और तीसरा आत्मिक। यह सुख हम संयोग से प्राप्त नहीं करते; अपना किया हुआ स्वर्ग (बलिदान किया हुआ सुख) तीन प्रकार का आनन्द बनकर फिर हमें प्राप्त होता है; यह है इस जन्म के सुख का, परलोक के तीनों लक्ष्यों को लाँघ जाना। मोक्ष वस्तुतः वह स्वर्ग है जो दे दिया जावे (इच्छा के बिना)। जब तक इच्छा है, तब तक चाहे वह मोक्ष-सुख ही क्यों न हो, आवागमन है। जब इच्छारहित (निष्कामता) की अवस्था होगी, मोक्ष स्वयमेव हो जावेगा। यह तथ्य 'हमारा दिया हुआ स्वर्ग' इन शब्दों से स्पष्ट हो रहा है। वेद का कथन है—

"जो पाप-कर्म किया था, उसे पाँवों के नीचे दबा दे! ज्ञान प्राप्त करके पवित्रता के पगों से आगे बढ़! अन्धकार को पार करके नाना प्रकार के ज्ञान के प्रकाश से मुक्त अनादि आत्मा तीसरे (आत्मिक) सुख के लोक को पहुँचे।"[1]

अपना बलिदान देने के लिए तैयार, निर्भीक वैदिक कर्मी की मनोभावना वेद के शब्दों में पढ़कर पाठक के मुख से साधुवाद निकलता है। देखिये—

"ओ हत्यारे (जल्लाद)! काली तलवार से इस त्वचा को, एक-एक जोड़ को उधेड़ दे, देर मत कर! ईश्वर के वास्ते मुझसे वैर मत कर! हाँ, जोड़-जोड़ अलग कर दे और इस बलिदानी को तीसरे (आत्मिक) आनन्द के लोक में पहुँचा दे।"[2]

बलिदान की प्रतीक्षा में शहीद, जल्लाद की देरी को स्वयं से शत्रुता मानता है। धर्म-मार्ग में मरने की इससे अधिक विह्वलता और क्या हो सकती है?

"पाँच तत्त्वों से बने शरीर की बलि देनेवाला, पाँच गुना आगे बढ़े, तीनों शारीरिक, बौद्धिक, आत्मिक प्रकाशों को प्राप्त करता

---

१. प्र पदोऽव नेनिग्धि दुश्चरितं यच्चचार शुद्धैः शफैरा क्रमतां प्रजानन्।
तीर्त्वा तमांसि बहुधा विपश्यन्नजो नाकमा क्रमतां तृतीयम्॥
(अथर्व० ९-५-३)

२. अनु च्छ्य श्यामेन त्वचमेतां विशस्तर्यथापर्वसिना माभि मंस्थाः।
माभि द्रुहः परुशः कल्पयैनं तृतीये नाके अधि वि श्रयैनम्॥ (अथर्व० ९-५-४)

हुआ, यज्ञ करनेवाला पुण्यकर्मा लोगों में बढ़े, तीसरे सुख के लोक में जावे।"[१]

आर्य शास्त्रों में प्रत्येक मनुष्य पर तीन ऋण माने गये हैं। भौतिक शरीर के लिए मनुष्य अपने माता-पिता का ऋणी है, इसे पितृ-ऋण कहते हैं। स्वास्थ्य के लिए प्रकृति की शक्तियों का ऋणी है, इसे देव-ऋण कहते हैं। अपने बौद्धिक एवं आत्मिक ज्ञान के लिए ऋषियों का ऋणी है, इसे ऋषि-ऋण कहते हैं। अच्छी सन्तान उत्पन्न करके मनुष्य पितृ-ऋण से मुक्त होता है; हवन-यज्ञ करके वायु इत्यादि की शुद्धि करता हुआ देव-ऋण से छुटकारा पाता है; और ऋषियों के दिये ज्ञान को अध्ययन-अध्यापन तथा प्रचार के द्वारा ऋषि-ऋण से मुक्त होता है। इन तीन प्रकार के ऋणों से मुक्ति का अभिप्राय यह है कि प्रत्येक व्यक्ति का कर्त्तव्य है कि वह (१) सन्तान के तन्तु को न तोड़े, (२) स्वास्थ्य तथा प्रसन्नता का विस्तार करे, (३) आत्मिक तथा बौद्धिक ज्ञान को फैलावे।

वेद में एक स्थान पर प्रार्थना की गई है—

"हम इस दृश्य जगत् के (शरीर के) ऋण से मुक्त हों। इससे बड़े संसार (प्राकृतिक शक्तियों) के ऋण से मुक्त हों। तीसरे (बौद्धिक तथा आत्मिक) संसार के ऋण से मुक्त हों। जो देवयान तथा पितृयान (मुक्ति तथा आवागमन) के लोग हैं, इन सब पथों से ऋण से मुक्त होकर बसें।"[२]

प्रथम वर्णित ऋण (पितृ-ऋण) से मुक्ति उन लोगों के लिए आवश्यक नहीं है, जिन्होंने कोई दूसरा आवश्यक दायित्व अपने ऊपर ले लिया है। वेद की आज्ञा है—

"कुछ लोग सन्तति-विस्तार करते हैं, वे पितृऋण से मुक्त होते हैं; कुछ लोग इस बन्धन से स्वतन्त्र होकर अपने त्याग से

---

१. पञ्चौदनः पञ्चधा वि क्रमतामाक्रंस्यमानस्त्रीणि ज्योतींषि।
ईजानानां सुकृतां प्रेहि मध्यं तृतीये नाके अधि वि श्रयस्व॥ (अथर्व० ९-५-८)

२. अनृणा अस्मिन्ननृणाः परस्मिन् तृतीये लोके अनृणाः स्याम।
ये देवयानाः पितृयाणाश्च लोकाः सर्वान् पथो अनृणा आ क्षियेम॥
(अथर्व० ६-११७-३)

तपस्वियों को त्याग का उदाहरण प्रस्तुत करें, तो वह स्वर्ग ही है।"[१]

यहाँ स्वर्ग का अर्थ है—देवयान अथवा मोक्ष। फिर वेद का कथन सुनिये—

"भौतिक जगत् से मैं बौद्धिक जगत् में उन्नति कर गया, बौद्धिक जगत् से आत्मिक जगत् में, आत्मिक जगत् से आनन्द के क्षेत्र में पहुँचकर मैंने प्रकाश तथा आनन्द को प्राप्त किया।" तथा,

"नश्वर जगत् देवताओं का स्थान है, इससे तृतीय लोक में देवताओं ने मोक्ष का सुख पाया है; इसे ब्रह्म में स्थिति कहते हैं।"[२]

"मैं बौद्धिक शक्ति से विस्तृत यज्ञ के विमान पर तपस्या को साथी बनाकर सवार होता हूँ। जरावस्था के पश्चात् भी जीवित रहकर हम आपके बुलाए हुए तृतीय (आत्मिक) आनन्दलोक में आनन्दित हों।"[३]

अध्यातम तथा तप, दोनों के मिलाप से आत्मिक आनन्द प्राप्त होता है।

मौलाना का आक्षेप—क्या पृष्ठ ५४-६४ में लिखे मन्त्र से यह स्पष्ट नहीं होता कि वेदों का बहिश्त इस धरती पर नहीं, अपितु तीसरे आसमान पर है? और भविष्य में मृत्यु के पश्चात् प्राप्त होगा?

उत्तर—हमने इस तथ्य को स्पष्ट कर दिया है कि तीसरा प्रकाश अथवा तीसरा आनन्द वस्तुतः आत्मिक आनन्द है; मौलाना ने इसे तीसरा आसमान समझ लिया है। कई प्रमाणों से यह स्पष्ट है—"इसी लोक में, जीते-जी" ये शब्द लिखे हैं। मोक्ष जीवित-अवस्था में प्रारम्भ

---

१. ततं तन्तुमन्वेके तरन्ति येषां दत्तं पित्र्यमायनेन।
अबन्ध्वेके ददतः प्रयच्छन्तो दातुं चेच्छिक्षान्त्स स्वर्ग एव॥
(अथर्व० ६-१२२-२)

२. (i) पृष्ठात् पृथिव्या अहमन्तरिक्षमारुहमन्तरिक्षाद् दिवमारुहम्।
दिवो नाकस्य पृष्ठात् स्वर्ज्योतिरगामहम्॥ (अथर्व० ४-१४-३)

(ii) अश्वत्थो देवसदनस्तृतीयस्या मितो दिवि।
तत्रामृतस्य चक्षणं देवाः कुष्ठमवन्वत॥ (अथर्व० ५-४-३)

३. यज्ञं यन्तं मनसा बृहन्तमन्वारोहामि तपसा सयोनिः। उपहूता अग्ने जरसः परस्तात् तृतीये नाके सधमादं मदेम॥ (अथर्व० ६-१२२-४)

होता है और शारीरिक मृत्यु से इसमें कुछ बाधा नहीं पड़ती; वह तो एक अनुभूति है। एक स्वर्ग यह है; दूसरा स्वर्ग है आवागमन के रहते सुख की अवस्था; वह इस जन्म में भी प्राप्त होती है, और आगे के जन्मों में भी। भविष्य के जन्म इस जन्म की तुलना में अन्तिम (आख़रत) हैं।

प्रश्न—मन्त्र पृष्ठ २४ किस आकाश पर चढ़ जानेवाले का वचन है? तथा क्या यह बुद्धि-विरुद्ध नहीं?

उत्तर—मौलाना! अथर्ववेद के ४-१४-३ में तो जो अनुवाद ऊपर किया है, उसमें यह बात ही नहीं आती। हाँ, क़ुर्आन की निम्न आयत में यह बात कही है, इसका व्याख्या आप ही कर सकते हैं—

"तदबीर करता है, अम्र की, आसमान से तरफ़ ज़मीन की, फिर चढ़ जाता है, तरफ़ उसके एक दिन में, जिसका मिक़्दार है हज़ार बरस तुम्हारी गिनती से।"[1]

*

---
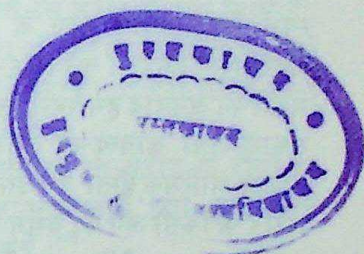
१. युदब्बिरुल-अम्र मिनस्समाअि अिलल् अर्ज़ि सुम्म यऽरुजु अिलैहि फ़ी यौमिन् कान मिक़दारुहू अल्फ़ सनतिमिम्मा तअुद्दून। (सूरतुसज्दति आयत ५)

स्वर्ग शारीरिक है अथवा आत्मिक ?

हम स्वर्ग का अर्थ विशदता से लिख चुके हैं; स्वर्ग का अर्थ है 'सुख की अवस्था'। यह सुख शरीर के साथ भी हो सकता है और शरीर के बिना भी; बौद्धिक सुख भी हो सकता है और शारीरिक सुख भी; दोनों प्रकार का सुख जीवन में भी प्राप्त हो सकता है, तथा मृत्यु के पश्चात् भी। मोक्षावस्था का आरम्भ इसी शरीर में होता है; हाँ, आत्मिक आनन्द का साधन यह शरीर नहीं होता। यह भी नहीं कि आत्मिक आनन्द की प्राप्ति के लिए शरीर का अभाव आवश्यक हो। मृत्यु के पश्चात् जिन्हें अच्छा जन्म मिल गया, उन्हें भी एक प्रकार का स्वर्ग मिल गया। मोक्ष के लिए एक विशेष शब्द है—अमृत; इस अवस्था की रूपरेखा ऋग्वेद ९-११३ में कही गई है। इस सूक्त के कुछ मन्त्रों का अनुवाद हम पहले लिख चुके हैं।[1] इस प्रकार की अनुभूति में, प्रकाश तथा आनन्द की अवस्था होती है। यह प्रकाश तथा आनन्द विशुद्ध आत्मिक होता है। इस सूक्त में कहीं भी शारीरिक सुख अथवा शरीर के किसी अंग का वर्णन नहीं है। स्थान-स्थान पर तीसरे, अथवा शारीरिक तथा बौद्धिक सुख के ऊपर, ऊँचे आत्मिक सुख तथा प्रकाश की बात कही गई है। यह सबसे ऊँचा स्वर्ग है, यद्यपि वैदिक परिभाषा में प्रयुक्त शब्द 'स्वर्ग' इस अवस्था के लिए विशेष नहीं। सनातन-धर्मी भी, जो स्वर्ग को धरती से अलग किसी स्थानविशेष पर मानते हैं, इसे मोक्षावस्था नहीं मानते, अपितु मोक्ष से निचली अवस्था मानते हैं जिसमें आवागमन रहता है। मोक्ष सनातनधर्मी की दृष्टि में भी एक आत्मिक अनुभूति है। आर्यसमाज तथा सनातन धर्म के मन्तव्यों में अन्तर इतना है कि जहाँ सनातनधर्मी स्वर्ग को इस जगत् से भिन्न एक अन्य भौतिक स्थान पर मानते हैं, आर्यसमाजी इसी संसार के सुख को ही 'स्वर्ग' कहते हैं। यह अवस्था आवागमन की अवस्था में भी आ जाती है। इस अवस्था में शरीर तो रहता है।

---

१. देखिए पृ० १२९-१३०

मौलाना ! कुछ गहराई से उन प्रमाणों पर ध्यान दें, जो उन्होंने इस अध्याय में दिये हैं, तब उन्हें अपनी इस सम्मति पर कि 'वेद में आवागमन का वर्णन नहीं है', पुनः विचार करने की आवश्यकता स्पष्ट हो जावेगी, और हमें उनके कथन का खण्डन करने की आवश्यकता नहीं रहेगी। वेद में कहा है—

"जो तत्त्व सर्वज्ञ तथा पथ-प्रदर्शक परमेश्वर ने (दूसरे जन्म में) माता-पिता के पास ले-जाते हुए (आत्मा से अलग नहीं किया) छोड़ दिया है, उसे मैं दूसरी बार बढ़ाता हूँ। शरीरयुक्त ऐ पितरो ! माता-पिता के घर में आनन्द मनाओ !"[1]

मंत्र १८-२-५९ का अनुवाद इससे पूर्व दे चुके हैं।

"ओ आगे से जानेवाले परमेश्वर ! इसे पुनः उत्पन्न कर जो आपकी कृपा से दूसरे जन्म के (माता-पिता के) अर्पितहुआ कर्मों से मुक्त है। जीवन की ओढ़नी लेकर अपने शेष अस्तित्व के साथ (इस जन्म के निकट) आये। क्रोध से मुक्त इस शरीर के साथ मिले।"[2]

"ओ प्रकाशयुक्त आत्मा ! तेरा जो महत्त्व देवताओं में है, जो तेरा शरीर माता-पिता के मध्य में आता है, जो तेरी शक्ति जगत् में प्रसिद्ध है, इससे हमें समृद्ध बना !"[3]

"जहाँ शुद्धहृदय तथा शुभकर्मोंवाले स्व-शरीर के रोगों को त्यागकर, त्रुटिरहित अंगों-सहित आनन्दमग्न हैं, उस सुखद लोक में हम पितरों तथा पुत्रों के दर्शन करें।"[4]

इस मन्त्र से दो मन्त्र पूर्व अर्थात् (अथर्व० ६-१२०-१) में कहा है कि गार्हपत्याग्नि (विवाह के यज्ञ की अग्नि) उस लोक में ले-जावे (स्वर्गलोक

---

१. यद् वो अग्निरजहादेकमङ्गं पितृलोकं गमयं जातवेदाः।
तद् व एतत् पुनरा प्याययामि साङ्गाः स्वर्गे पितरो मादयध्वम्॥
(अथर्व० १८-४-६४)

२. अव सृज पुनरग्ने पितृभ्यो यस्त आहुतश्चरति स्वधावान्।
आयुर्वसान उप यातु शेषः सं गच्छतां तन्वाऽसुवर्चाः॥ (अथर्व० १८-२-१०)

३. यस्ते देवेषु महिमा स्वर्गो या ते तनूः पितृष्वाविवेश।
पुष्टिर्या ते मनुष्येषु पप्रथेऽग्ने तया रयिमस्मासु धेहि॥ (अथर्व० १९-३-३)

४. यत्रा सुहार्दः सुकृतो मदन्ति विहाय रोगं तन्वः स्वायाः।
अश्लोणा अङ्गैरह्रुता स्वर्गे तत्र पश्येम पितरौ च पुत्रान्॥
(अथर्व० ६-१२०-३)

में ले-जावे)। यहाँ अर्थ स्पष्ट है कि स्वर्गलोक से अभिप्राय गृहस्थाश्रम ही है।

"जहाँ शुद्धहृदय तथा शुभकर्मवाले लोग, स्वशरीर के रोग से रहित होकर आनन्दमग्न हैं, उस लोक में यह तपस्विनी (नववधू) सम्मिलित हुई है। वह हमारे मनुष्यों तथा पशुओं को कष्ट न दे।"[1]

शतपथ ब्राह्मण (४-६-१-१) में कहा है—"जैसे-जैसे ये इन्द्रियों के गोलक प्रकट होते हैं, यह यज्ञ करनेवाला परलोक में सारे शरीर के साथ उत्पन्न होता है।"[2] इन मन्त्रों में स्पष्ट ही एक सुखद जीवन का वर्णन है जो शुभ कर्मों का फल है। अथर्व० ६-१२०-३ तथा ३-२८-५ में सुखी गृहस्थ का वर्णन किया है। मन्त्र ६-१२०-३ इसी का नाम 'स्वर्ग' रखता है, और मन्त्र ३-२८-५ उसको 'लोक' शब्द से अभिहित करता है। इसके पश्चात् मौलाना ने वेदान्त शास्त्र पर विवाद आरम्भ किया है—क्या मोक्षावस्था में सूक्ष्म शरीर रहता है या नहीं? इस स्थान पर यह विवाद वर्तमान विषय से सर्वथा असम्बद्ध है, क्योंकि इन मन्त्रों में मोक्ष का वर्णन तो है नहीं, और जिस स्वर्ग का इन मन्त्रों में वर्णन है, वह आवागमन के चक्कर में आनेवाला जीवन ही है।

प्रश्न—"वे कौन-से वेदमन्त्र हैं, जिनमें वैदिक स्वर्ग का शरीररहित केवल आत्मिक होना प्रमाणित होता है? हमने जो मन्त्र वैदिक स्वर्ग के शारीरिक होने में पृष्ठ ७५ से ७९ तक, प्रमाण-स्वरूप दिये हैं, उनका क्या उत्तर है?

उत्तर—मोक्ष का आनन्द केवल आत्मिक आनन्द है, यह बात ऋ० ९-११३ में स्पष्ट है। आपने जो प्रमाण दिये हैं, वे तो आवागमन की अवस्था में आनेवाले की विभिन्न अवस्थाओं के वर्णन के हैं; इनमें शारीरिक सुख भी होता है। यदि सुख का शारीरिक होना ही आपके आक्षेप का आधार है, तो कृपया पहले हमारे मन्तव्यों से परिचित हो लीजिये, और फिर आपको उपयुक्त लगे, तो अपने आक्षेपों पर पुनर्विचार का कष्ट कर लीजिये। *

---

१. यत्रा सुहार्दः सुकृतो मदन्ति विहाय रोगं तन्वः स्वायाः।
तं लोकं यमिन्यभिसंबभूव सा नो मा हिंसीत् पुरुषान् पशूंश्च॥
(अथर्व० ३-२८-५)

२. यथा यथा प्राणा ग्रहा व्याख्यायन्ते स ह सर्वतनुरेव यजमानोऽमुष्मिल्लोके संभवति। (शतपथ ४-६-१-१)

क्या स्वर्ग अनन्त काल तक है ?

मौलाना का चालीसवां प्रश्न इस प्रकार से है—

"वेदों के स्वर्ग में सदा रहने के सम्बन्ध में जो प्रमाण हमने पृष्ठ-संख्या ७९-८० पर दिये हैं, उनका तर्कसंगत उत्तर क्या है ?

मौलाना के विवाद का विषय है 'वेदों का बहिश्त'। पुस्तक के आरम्भ में ही आपने नोट लिखा कि "इस पुस्तक में सब प्रमाण वेदों से दिये गये हैं; दूसरी पुस्तकों के प्रमाण केवल समर्थन में ही दिये गये हैं।" तो क्या आपको वेदों के बहिश्त में बहिश्तवालों के सदा-सदा बहिश्त में रहने का कोई प्रमाण वेदों से मिला ? यदि नहीं मिला तो लाला लाजपतराय तथा पं० नरदेव शास्त्री की सम्मति क्या वेदमन्त्र है ? जब आक्षेप का और आधार नहीं मिला तो आक्षेप की भाषा में ही शब्द 'सदा' को दोहरा दिया है, शायद इस विचार से, कि ऐसा करने से आधारहीन प्रश्न में जान पड़ जाये। मौलाना ने पृष्ठ ७९-८० में प्रमाण तो पुस्तक 'आर्यसमाज का इतिहास' से दिये हैं, जिसके लेखक पंडित नरदेव जी शास्त्री हैं; क्या इस पुस्तक की बातों का उत्तर देना भी आर्यसमाज का दायित्व है ? हाँ, इतना और लिखा है—"प्रमाणों के लिए देखो पृष्ठ १७ और अनन्त स्वर्ग के लिए देखो पृष्ठ······।" पृष्ठ १७ तो हमने देख लिया और 'पृष्ठ······' का अभिप्राय हम नहीं समझे। पृष्ठ १७ पर कोई प्रमाण नहीं दिया। जब और कुछ नहीं मिला तो लिखा है—"स्वामी दयानन्द जी ने अपने अन्तिम सत्यार्थप्रकाश में जो प्रमाण 'मोक्ष से पुनरावृत्ति' के दिये हैं, न केवल उनका अनुवाद ही अशुद्ध है, अपितु किसी बुद्धिमान् की आत्मा भी उसे स्वीकार नहीं करेगी कि एक व्यक्ति, जो सर्वोच्च अवस्था में सर्वोत्तम सुख तथा आनन्द प्राप्त कर पाया है, वह फिर वापस लौटने के लिए विह्वलता से प्रार्थना करेगा।" (पृष्ठ ८०)

यदि मौलाना स्वामी जी द्वारा वर्णित मन्त्र को लिख देते, उसका

अनुवाद भी दे देते, उसपर आक्षेप भी करते, तो उत्तर दिया जाता। परन्तु यहाँ तो आपने लिख दिया 'अनुवाद ग़लत है'; और वैसे आपकी सम्मति में सारा स्वर्ग-सम्बन्धी सिद्धान्त ही ग़लत है, फिर इसपर केवल इतना लिख देना था कि 'ग़लत है', इतने विवाद की आवश्यकता ही क्या थी ? विवाद अभीष्ट था तो उस मन्त्र का अपना अनुवाद देते, नहीं तो कोई क्या समझे कि यह विह्वलता का संकेत किधर को है ? सम्भव है वह मौलाना की अपनी कल्पना का ही चित्र हो ! आप लिखते हैं—"विषय इतना विस्तृत है कि इसे यहाँ लिखने की गुंजाइश (स्थान) नहीं।" (वेदों का बहिश्त) तो जनाब ! गुंजाइश किसकी है ? इधर-उधर की असम्बद्ध बातों की ? संसार कैसे उत्पन्न हुआ, त्रिविष्टप का क्या अर्थ है, ये विषय तो स्वर्ग के विवाद में स्थान पा सके, परन्तु स्वर्ग अनन्त है या सान्त, इसके लिए मौलाना गुंजाइश नहीं निकाल सके। मौलाना ! 'स्वर्ग' शुभ कर्मों का फल होता है और शुभ कर्म सीमित होते हैं; सीमित कर्मों का फल असीम नहीं हो सकता; यह संक्षिप्त किन्तु स्पष्ट तर्क है स्वर्ग के सान्त होने में। आप इसपर कुछ लिख देते तो बाधा क्या थी ? और कुछ नहीं तो स्वामी जी के दिये अर्थों पर ही क़लम चला पाते ? इससे आपका अभिप्राय तो स्पष्ट हो पाता ? विषय के विस्तृत (?) होने के भय से आपकी

दिल की दिल में ही रही, बात न होने पाई।

आपने ध्यान दिया भी तो इतना ही "संक्षेप में कहें तो इतना ही कि आर्यसमाज को हम चुनौती देते हैं कि चारों वेदों में से एक प्रमाण भी मोक्ष के सान्त होने में उपस्थित करें, और उसके विरोध में हम वेद, शास्त्र तथा स्वयं स्वामी दयानन्द जी की पुस्तकों से मोक्ष की अनन्तता के सम्बन्ध में पूरे एक सौ प्रमाण देने को तैयार हैं।" (पृष्ठ ८०)

मौलाना ! इन सौ प्रमाणों में से यदि एक प्रमाण भी पुस्तक के पृष्ठों पर आ जाता तो आक्षेप करते हुए उत्तर माँगने का आपको अवसर मिल जाता। आख़िर अब हम उत्तर दें भी तो किसका ? आपकी चुनौती का या आपके प्रमाण का ? कहीं मौलाना चुनौती और प्रमाण को पर्यायवाची तो नहीं समझ बैठे ? आपकी चुनौती प्रमाण माँगने की ही तो है ! लीजिये प्रमाण—

"जो यज्ञ तथा दान की भावनाओं से युक्त प्रकाशस्वरूप

परमेश्वर की मित्रता अर्थात् मोक्ष को प्राप्त कर चुके हैं, ओ पवित्र ज्ञानवाले देवताओ ! तुम्हारा भला हो ! पुनः मनुष्य की अवस्था को प्राप्त करो।"[१]

"जिन्होंने प्रकाशलोक को प्राप्त किया, यज्ञ द्वारा पाप का नाश किया, ऐ विशुद्ध ज्ञानवाले ज्ञानियो ! तुम्हारी दीर्घायु हो। फिर मनुष्य का रूप धारण करो।"[२]

"जो यज्ञ-कर्म द्वारा देव-मार्ग के पथिक हुए, जिन्होंने धरती को माता समझकर इससे प्यार की सीमाओं को विस्तृत किया, ओ विशुद्ध ज्ञानवाले देवताओ ! तुम्हें आज्ञाकारी सन्तान प्राप्त हो। पुनः मनुष्य-जन्म को धारण करो !"[३]

"ओ प्रकाश के पुत्रो ! ऐ ऋषियो ! यह तुम्हारा मिलानेवाला (पिता) तुम्हारे हित की बात कहता है, इसे ध्यानपूर्वक सुनो ! ओ पवित्र ज्ञानवाले ऋषियो ! तुम परमेश्वर के प्यारे बनो ! पुनः मनुष्य-जन्म को प्राप्त करो।"[४]

यहाँ मोक्ष के पश्चात् केवल मनुष्य-जन्म धारण करने की बात ही नहीं कही, अपितु आगे चलकर जिन कर्मों को करना चाहिये, वे भी बता दिये। यहाँ एक नहीं, चार मन्त्र एक ही सूक्त के हमने निवेदन कर दिये हैं। परमेश्वर तथा जीव में अन्तर भी यही है कि जहाँ परमेश्वर स्वभाव से ही पवित्र है, जीव (मनुष्य) पाप तथा पुण्य में चुनाव करता

---

१. ये यज्ञेन दक्षिणया समक्ता इन्द्रस्य सख्यममृतत्वमानशे।
तेभ्यो भद्रमङ्गिरसो वो अस्तु प्रति गृभ्णीत मानवं सुमेधसः ।।
(ऋ० १०-६२-१)

२. य उदाजन् पितरो गोमयं वस्वृतेनाभिन्दन् परिवत्सरे बलम्।
दीर्घायुत्वमङ्गिरसो वो अस्तु प्रति गृभ्णीत मानवं सुमेधसः ।।
(ऋ० १०-६२-२)

३. य ऋतेन सूर्यमारोहयन् दिव्यप्रथयन् पृथिवीं मातरं वि।
सुप्रजास्त्वमङ्गिरसो वो अस्तु प्रति गृभ्णीत मानवं सुमेधसः ।।
(ऋ० १०-६३-३)

४. अयं नाभा वदति वल्गु वो गृहे देवपुत्रा ऋषयस्तच्छृणोतन।
सु ब्रह्मण्यमङ्गिरसो वो अस्तु प्रति गृभ्णीत मानवं सुमेधसः ।।
(ऋ० १०-६२-४)

है; इसी चुनाव के कारणों से उसे इसका फल मिलता है। जीव के कर्म सीमित होते हैं, अतः उनका फल भी सीमित ही होता है। मोक्षावस्था में जीव आत्मिक आनन्द की चरम सीमा को प्राप्त कर पाता है। इस अवस्था में जीव कर्म तो करता है, परन्तु उसे पाप-पुण्य का चयन नहीं करना पड़ता। इस अवस्था में वह पुण्य-कार्य ही करता है, इसलिए उन कर्मों के फलस्वरूप, उन कर्मों के आत्मिक आनन्द के अतिरिक्त और किसी फल का बीज-वपन नहीं होता। मोक्ष तो पूर्वकृत कर्मों का फल है। उसके पश्चात् जीव जब आवागमन में आता है, तो अपनी आत्मोन्नति के संस्कार साथ लाता है, परन्तु साथ ही पाप-कर्म करने की यह स्वतन्त्रता कुछ कम महत्त्व की वस्तु नहीं।

प्रकाश तथा आनन्द

इससे पूर्व हमने वेद के प्रमाणों से सिद्ध किया है कि स्वर्ग का एक अर्थ इसी आवागमन के चक्र में आनेवाला सुख का काल है। इस सुखद काल की व्याख्या उन मन्त्रों में है जिन्हें अपने विचार में मौलाना ने अगले अध्यायों में आर्यसमाज के मन्तव्यों के विरुद्ध समझकर उपस्थित किया है। आर्य-साहित्य में प्रायः इस भौतिक जगत् को एक वृक्ष से उपमा दी गई है। यही बात वेद में कही है, जैसे—

> "जिस पत्तों से लदे वृक्ष पर साधक अपनी समस्त इन्द्रियों-सहित आनन्दमग्न रहता है, यहाँ सारे जगत् का स्वामी परमेश्वर हम अनादि जीवों पर कृपादृष्टि रक्खे।"[1]

अनुभूतिमय जगत् का आनन्द तपस्वी लेता है। उसकी समस्त इन्द्रियाँ स्वस्थ रहती हैं। जीवन का वास्तविक आनन्द उसे प्राप्त होता है। वेद में पुनः कहा है—

> "दो सुन्दर पक्षी, आपस में मिले हुए मित्र, एक ही वृक्ष पर बसेरा करते हैं। उनमें से एक सुखद फलों को खाता है, दूसरा न खाता हुआ देखता है।"[2]

> "जिस वृक्ष पर मीठे फल खानेवाले पक्षी निवास करते हैं, और सन्तति-विस्तार करते हैं, उसके फल को पूर्वकाल से ही मीठा बताते आये हैं। उसे वह प्राप्त नहीं कर सकता जो अपने भगवान् को नहीं जानता।"[3]

१, यस्मिन् वृक्षे सुपलाशे देवैः संपिबते यमः।
अत्रा नो विश्पतिः पिता पुराणाँ अनु वेनति॥ (ऋ० १०-१३५-१)

२. द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभि चाकशीति॥ (ऋ० १-१६४-२०)

३. यस्मिन् वृक्षे मध्वदः सुपर्णा निविशन्ते सुवते चाधि विश्वे।
तस्येदाहुः पिप्पलं स्वाद्वग्रे तन्नोन्नशद्यः पितरं न वेद॥ (ऋ० १-१६४-२२)

हमारे मौलाना (भगवान् उन्हें कुदृष्टि से बचाये) कभी-कभी बड़े पते की बात कह जाते हैं। फरमाते हैं—"ऐसा लगता है कि यहाँ दो प्रकार के मनुष्य को पक्षियों से उपमा दी गई है। एक पिता (परमेश्वर) को जाननेवाला है, वह उसके फल को खाता है, परन्तु दूसरा जो पिता को नहीं मानता, यद्यपि वह बैठा वहीं है, परन्तु वह उस फल को प्राप्त नहीं कर सकता।" (पृष्ठ ८९)

आख़िर वेद का कथन है, मौलाना जी! इस कथन के सम्बोधन उतने ही हैं, जितने कोई और। परमेश्वर के कथन को परमेश्वर का भक्त समझ ही लेता है। वेद के आदेश अत्यन्त स्पष्ट हैं। बुद्धि शुद्ध हो, तो शीघ्र समझ में आ जाते हैं। वेद में संसार तथा इस शरीर का नाम 'अश्वत्थ' भी कहा है।[1] **अश्वत्थ** के दो अर्थ होते हैं—प्रथम, **कल न रहनेवाला**, अर्थात् **नश्वर**; दूसरा अर्थ है **वीर पुरुषों के अधिकार में रहनेवाला**। वेद का आदेश है—

"यह संसार देवताओं के रहने का स्थान है, इसके द्वारा तीसरे (आत्मिक) आनन्द के लोक में भक्तों ने मोक्षानन्द, अर्थात् ईश्वर में एकाग्र होने का आनन्द प्राप्त किया है।"[2]

ईश्वर में स्थिरता के लिए यहाँ 'कुष्ठ' शब्द प्रयुक्त हुआ है। 'कु' अर्थात् 'नियम'—'आधार', तथा 'ष्ठ' का अर्थ है 'स्थिरता'।

"प्रकाश की नौका, जिसका लङ्गर भी प्रकाश का था, इस प्रकाशमय जगत् में चली। वहाँ अमृत का पुष्प, अर्थात् ईश्वर में स्थिरता का पुष्प प्राप्त किया।"[3]

"मार्ग भी प्रकाशमय थे, चप्पू प्रकाश के थे, नौकाएँ प्रकाश की थीं, जिससे ईश्वर में स्थिरता का पुष्प प्राप्त किया गया।"[4]

यह समाधि की अवस्था है। योगी आनन्द के समुद्र में, प्रकाश की

---

१. ऊर्ध्वमूलोऽवाक् शाखः एषोऽश्वत्थः सनातनः। (कठोपनिषद्)

२. अश्वत्थो देवसदनस्तृतीयस्यामितो दिवि।
तत्रामृतस्य चक्षणं देवाः कुष्ठमवन्वत॥ (अथर्व० ५-४-३)

३. हिरण्ययी नौरचरद्धिरण्यबन्धना दिवि।
तत्रामृतस्य पुष्पं देवाः कुष्ठमवन्वत॥ (अथर्व० ५-४-४)

४. हिरण्ययाः पन्थान आसन्नरित्राणि हिरण्यया।
नावो हिरण्ययीरासन् याभिः कुष्ठं निरावहन्॥ (अथर्व० ५-४-५)

नौका में बैठा, तन्मयता का आनन्द ले रहा है। कुष्ठ एक ओषधि का का नाम भी है जो क्षयरोग में प्रयुक्त होती है। वेद में उस ओर भी संकेत कर दिया गया है—

"तुझे उत्पन्न करनेवाली धरती जीवनप्रद है, तुझे पालन करनेवाला प्रकाश (रश्मियाँ) जीवन देनेवाला है।"[1]

"तू ओषधियों में सर्वोत्तम है, जैसे घर के पशुओं में बैल, जैसे वन के पशुओं में सिंह।"[2]

"कुष्ठ अकसीर है, सोम के पास खड़ा है।"[3]

आध्यात्मिक क्षेत्र में ईश्वर में एकाग्रता अकसीर है। वह श्रद्धा की सखी है। आत्मिक ओषधियों में सिंह है। ओषधि के प्राकृतिक प्रमाण के अतिरिक्त ओषधि की प्रशंसा का बौद्धिक प्रमाण भी रोगी को स्वस्थ बनाने में सहायक होता है। वेद के आदेशानुसार, वैद्य अपनी दवाई की उत्पत्ति के सम्बन्ध में रोगी के मन में अत्यन्त आशापूर्ण विचार देगा। अतः कुष्ठ एक तो ओषधि का नाम है, दूसरा ईश्वर में ध्यानावस्था का नाम, जो सहस्रों ओषधियों की एक ओषधि है। वैदिक सूक्तों में शारीरिक एवं आत्मिक दोनों अक्सीरों की प्रशंसा एक-साथ की गई है; वेद-काव्य श्लेषालंकार से अलंकृत है। वेद का यह कथन देखिये—

"यह संसार देवताओं के रहने का स्थान है। इसके द्वारा तीसरे (आत्मिक) आनन्द का स्थान है, अमृत का आनन्द है। वहाँ कुष्ठ (अकसीर) होता है।"[4]

छान्दोग्य उपनिषद् में कहा है—

"यहाँ तीसरे (आत्मिक) प्रकाश के लोक में आनन्द का झरना है; वह अश्वत्थ है, वह अध्यात्म का तत्त्व है।"[5]

---

१. जीवला नाम ते माता जीवन्तो नामे ते पिता। नद्यायं पुरुषो रिषत्।
यस्मै परिब्रवीमि त्वा सायंप्रातरथो दिवा॥ (अथर्व० १९-३९-३)

२. उत्तमो अस्योषधीनामनड्वान् जगतामिव व्याघ्रः श्वपदामिव।
नद्यायं पुरुषो रिषत्। (अथर्व० १९-३९-४०)

३. स कुष्ठो विश्वभेषजः साकं सोमेन तिष्ठति॥ (अथर्व० १९-३९-७)

४. तत्रामृतस्य चक्षणं ततः कुष्ठो अजायत। (अथर्व० १९-३९-८)

५. तृतीयस्यामितो दिवि तदैरमदीयम्। (छान्दोग्य)

मौलाना ने अर्थ किया है—"वहाँ पीपल का वृक्ष है, जिससे सोम बहता है।" उपनिषद् में कहा है, वह अश्वत्थ है, वह सोम से निकाला गया है। अभिप्राय यह है कि आत्मिक आनन्द ही वास्तविक आनन्द है, शेष सब बाहिर का खेल मात्र हैं। 'ऐरमदीय' का शब्दार्थ है 'अन्न का आनन्द'। उपनिषद् में अन्न से अभिप्राय है भौतिक जगत्। इस भौतिक जगत् का सुख भी भक्त ही लेते हैं। विलासिता में डूबे व्यक्ति तो अपना भी विनाश करते हैं, और इस जगत् का भी ! विष्टारी यज्ञ की व्याख्या हम इससे पूर्व कर चुके हैं—सन्तति-विस्तार का कर्त्तव्य, अर्थात् गृहस्थाश्रम ! वेद का आदेश है—

"यह यज्ञों में विस्तृत एवं महान् है। सन्तति-विस्तार का यज्ञ करके (विवाह करके) मनुष्य सुख के लोक में प्रविष्ट होता है, सुन्दर कमल, गोल कमल, नीलोफ़र और उसके बीज को फैलाता है, इस स्वर्गलोक में (गृहस्थाश्रम में) सुख की सब धाराएँ तुझे सब ओर से प्राप्त हों। कमलों से भरे तालाब, मिठास की वर्षा करते हुए सब ओर से तेरे समीप हों।"[1]

ऋग्वेद ६-१३ की व्याख्या इससे पूर्व हो चुकी है।

"जहाँ देवस्वभाव के नेता रहते हों, उस प्रिय अमृत से मैं सब ओर से सुख प्राप्त करूँ। बड़ा पग लेनेवाले का वही मित्र है। व्यापक प्रभु के चरणों में मधु का उत्स है।"[2]

हमने पद का अर्थ 'चरण' किया है; इसका अर्थ 'प्राप्ति' भी है। उस मिठास तथा माधुर्य के क्या कहने, जो परमेश्वर की भक्ति और उसके मिलाप से प्राप्त होता है ! ऋग्वेद १-१२५-४ में दान देने का आत्मिक सुख बताया है, कहा है—

"यज्ञ करनेवाले की ओर ही नहीं, यज्ञ करने का निश्चय करनेवाले की ओर भी सुख की नदियाँ तथा आशाओं के नद बहते हैं। दानी की, जनता की भावनाओं को पूर्ण करनेवाले की ओर

---

१. आण्डीकं कुमुदं सं तनोति बिसं शालूकं शफको मुलाली।
एतास्त्वा धारा उप यन्तु सर्वाः स्वर्गे लोके मधुमत्पिन्वमाना उप त्वा तिष्ठन्तु पुष्करिणीः समन्ताः ॥ (अथर्व० ४-३४-५)

२. तदस्य प्रियमभि पाथो अश्यां नरो यत्र देवयवो मदन्ति।
उरुक्रमस्य स हि बन्धुरित्था विष्णोः पदे परमे मध्व उत्सः ॥ (ऋ० १-१५४-५)

यश तथा प्रकाश की धाराएँ उमड़ती हैं।"[1]

"जो दान करता है, वह सुख के ऊँचे शिखर पर खड़ा होता है, उसका स्थान देवताओं में होता है। बहता पानी भी उसके लिए घृत का प्रभाव रखता है, उसकी दानशीलता उसे समृद्ध बनाती है।"[2]

"सत्य के मार्ग को भली प्रकार देख, जिसपर साधक, पुण्यात्मा चलते हैं, उन्हीं मार्गों से सुख के लोक को प्राप्त कर! जहाँ स्थिरचित्त ईशभक्त, सत्य मार्ग के पथिक सुरक्षित होते हैं। तीसरी (आत्मिक) सुखद अवस्था में स्थिर हो।"[3]

फिर कहा है---

"स्वर्गा लोका अमृतेन विष्ठा इषमूर्जं यजमानाय दुह्राम्।

(अ० १८-४-४)

"यज्ञ करनेवाले को सुख की विभिन्न अनुभूतियाँ, जिनका आधार प्रकाश है, इच्छापूर्वक प्राप्त हों।"

"सुख की अनुभूतियाँ जिनमें अमृत भरा है, यज्ञकर्ता को सांसारिक एवं आत्मिक आनन्द देती हैं।"[4]

"शक्ति के केन्द्र अंग, जो तेरी इन्द्रियों-सहित विद्यमान हैं, वे तेरे शुभकर्मों का केन्द्र होकर मिठास तथा प्रकाश देनेवाले हों।"[5]

---

१. उप क्षरन्ति सिन्धवो मयोभुव ईजानं च यक्ष्यमाणं च धेनवः।
पृणन्तं च पपुरिं च श्रवस्यवो घृतस्य धारा उप यन्ति विश्वतः॥
(ऋ० १-१२५-४)

२. नाकस्य पृष्ठे अधि तिष्ठति श्रितो यः पृणाति स ह देवेषु गच्छति।
तस्मा आपो घृतमर्षन्ति सिन्धवस्तस्मा इयं दक्षिणा पिन्वते सदा॥
(ऋ० १-१२४-५)

३. ऋतस्य पन्थामनु पश्य साध्वङ्गिरसः सुकृतो येन यन्ति।
तेभिर्याहि पथिभिः स्वर्गं यत्रादित्या मधु भक्षयन्ति तृतीये नाके अधि वि श्रयस्व॥ (अथर्व० १८-४-३)

४. प्रतीमां लोका घृतपृष्ठाः स्वर्गाः कामंकामं यजमानाय दुह्राम्॥
(अथर्व० १८-४-५)

५. अपूपापिहितान् कुम्भान् यांस्ते देवा अधारयन्।
ते ते सन्तु स्वधावन्तो मधुमन्तो घृतश्चुतः॥ (अथर्व० १८-४-२५)

ऋग्वेद ६-४-६ का अनुवाद पहले किया जा चुका है।

"ऐ मनुष्य ! तेरे जो पूर्वज हो चुके हैं, और जो उनके पश्चात् विद्यमान हैं उनके लिए सौ धाराओं की भरी घी की नदी चलें।"[१] अर्थात् जीवितों को खिला और मृतकों का दाह-कर्म कर।

ब्रह्मचारी कहता है—

"यह ब्रह्मचर्य की अकसीर, मेरे पास घी की धारा तथा भक्ष्य पदार्थों का रस लाई है।"[२]

"जो जीवित हैं, जो मर चुके हैं, जो उत्पन्न हुए (शिशु) हैं, तथा जो पूज्य हैं, उनके लिए मिठास की धाराओंवाली घी की भरी नदी बहे।"[३]

मृतकों का शव तो घृत से ही जलाया जाता है, जीवित आबाल-वृद्ध की सेवा-सुश्रूषा गृहस्थाश्रम के स्वर्ग में रहनेवाले गृहस्थ का कर्त्तव्य है।

*

---

१. ये ते पूर्वे परागता अपरे पितरश्च ये ।
तेभ्यो घृतस्य कुल्यै तु शतधारा व्युन्दती ।। (अथर्व० १८-३-७२)

२. स मायं मणिरागमन्मधोर्घृतस्य धारया कीलालेन मणिः सह ।।
(अथर्व० १०-६-२५)

३. च जीवा ये च मृता ये जाता ये च यज्ञियाः ।
तेभ्यो घृतस्य कुल्यैतु मधुधारा व्युन्दती ।। अथर्व० १८-४-५७)

ब्रह्मपुरी

ईश्वर को जानने का सुअवसर मनुष्य-जीवन में ही है। इससे निचली योनियों में ईश्वर के ज्ञान का अवसर ही नहीं मिलता। अतः मनुष्य-शरीर को 'भगवान् की नगरी' कहा गया है। वेद में इसका वर्णन है, और जन-साधारण की जिह्वा पर भी यह सत्य रहता है। योगीजन इस नगरी के आठ चक्र बताते हैं जिनमें प्राण को कुण्डलिनी से ब्रह्मरन्ध्र तक उठाया जाता है। इसके नौ द्वार हैं--दो नेत्र, दो श्रोत्र, दो नथने, एक मुख, तथा शौच और मूत्र के दो स्थान। यह द्वार बाहिर की ओर खुलते हैं। जनसाधारण इस शरीर को 'नवद्वारों की नगरी' कहते हैं। गीता में कहा है—"सब कर्मों (के प्रभाव) को मन से त्यागकर संयमी व्यक्ति नवद्वारों वाली नगरी में सुखपूर्वक रहता है। वह न कुछ करता है न कराता है।"[1] (गीता ५-१३) यह भी स्वर्ग है। ज्ञानी इसी के सदुपयोग से शारीरिक तथा आत्मिक सुख का अधिकारी बनता है। वेद का कथन है—

"ऊपर फैली हुई, टेढ़ी फैली हुई, दिशाएँ उस मनुष्य की ओर झुकाव करती हैं जो ब्रह्मपुरी (ईश्वर की नगरी) को जानता है, जिससे वह पुरुष कहलाता है।"[2]

मनुष्य को पुरुष इसलिए कहते हैं कि वह पुरी (ईश्वर की नगरी) अर्थात् शरीर में रहता है। संसार भक्त की ओर जैसे उमड़कर आता है। फिर कहा है—

"जो ब्रह्म की नगरी को जानता है, जिस पुरी को मोक्ष ने घेर रक्खा है, उसको ईश्वर तथा ईश्वरीय ज्ञानवाले लोग प्रकाश,

---

१. सर्वकर्माणि मनसा सत्यस्यास्ते सुखं वशी ।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन् ।। (गीता ५-१३)

२. ऊर्ध्वो नु सृष्टाः तिर्यङ् नु सृष्टाः सर्वा दिशः पुरुष आ बभूवाँ ।
पुरं यो ब्रह्मणो वेद यस्याः पुरुष उच्यते ।। (अथर्व० १०-२-२८)

प्राण तथा सन्तान देते हैं।"[1]

वस्तुत: प्रकाश, प्राण तथा सन्तति उसी की है, जो जीवन-मुक्त होता है। उसके चारों ओर मोक्षलोक विस्तृत होता है। यदि आत्मा इस मानवशरीर का सदुपयोग करे, तो मोक्ष उसके समीप ही तो है। यह सब दान ब्रह्म और ब्रह्म के भक्तों के ही तो हैं! फिर कहा है—

"उसे बुढ़ापे से पूर्व नेत्रों का प्रकाश नहीं जाता, न प्राण, जो ब्रह्म की नगरी को जानता है, जिससे वह पुरुष कहलाता है।"[2]

शरीर का ज्ञान हो, और शरीर की शक्तियों का ठीक उपयोग किया जाए, तो स्वाभाविक आयु का पाना सुगम होता है। यदि इस शरीर को ऐसा पवित्र माना जावे कि यह ईश्वर के ज्ञान तथा मिलाप का स्थान है, तो इससे कोई पाप करे ही क्यों?

"आठ चक्रों वाली, और नवद्वारों वाली देवताओं की नगरी है, जिसे कोई जीत नहीं सकता, उसमें एक प्रकाशमय निधि है; वह प्रकाश से घिरा हुआ स्वर्ग है।"[3]

"इस प्रकाशमय निधि में जो तीनों कालों के चक्र पर दृढ़ता से स्थित है, पूजा के योग्य आत्मा है, उसका ज्ञान ब्रह्मज्ञानियों को होता है।"[4]

"इस चमकनेवाली प्रकाशमय सौन्दर्ययुक्त नगरी में, जिसे कोई जीत नहीं सकता, ब्रह्म (ईश्वर) समा रहा है।"[5]

योगियों की परिभाषा में इस निधि को हृदय-पद्म कहते हैं, जहाँ

---

१. यो वै तां ब्रह्मणो वेदामृतेनावृतां पुरम्।
तस्मै ब्रह्म च ब्राह्माश्च चक्षुः प्राणं प्रजां ददुः॥ (अथर्व० १०-२-२९)

२. न वै तं चक्षुर्जहाति न प्राणो जरसः पुरा।
पुरं यो ब्रह्मणो वेद यस्याः पुरुष उच्यते॥ (अथर्व० १०-२-३०)

३. अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या।
तस्यां हिरण्ययः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः॥ (अथर्व० १०-४-३१)

४. तस्मिन् हिरण्यये कोशे त्र्यरे त्रिप्रतिष्ठिते।
तस्मिन् यद्यक्षमात्मन्वत् तद्वै ब्रह्मविदो विदुः॥ (अथर्व० १०-२-३२)

५. प्रभ्राजमानां हरिणीं यशसा संपरीवृताम्।
पुरं हिरण्ययीं ब्रह्मा विवेशापराजिताम्॥ (अथर्व० १०-२-३३)

आत्मा तथा परमात्मा का मिलाप होता है। समाधि-अवस्था में यह प्रकाशमय खिला हुआ दिखाई देता है। संस्कृत में समय को त्रिअर, अर्थात् तीन दण्डों (भूत, भविष्यत्, वर्तमान) वाला चक्र कहते हैं, जो हर समय घूमता रहता है। परन्तु हृदय-पद्म इस चक्र के घुमाव में नहीं आता। इसकी प्रतिष्ठा तीन बार अर्थात् पूरी दृढ़ता से की गई है।

छान्दोग्य उपनिषद् में ब्रह्मचर्य की महिमा में कहा है—"यह जो अनाशकायन है वह ब्रह्मचर्य है, क्योंकि वह आत्मा जिसको ब्रह्मचर्य से प्राप्त करते हैं कभी नष्ट नहीं होता। यह जो अरण्यायन है, वह ब्रह्मचर्य है क्योंकि 'अर' और 'ण्य' दो नहरें हैं जो तीसरे आत्मिक लोक में समाधि-अवस्था में मिलती हैं। वह 'ऐतरमय' अर्थात् आनन्द का झरना है; वह सोम अर्थात् आत्मिक आनन्द के उत्पन्न होने की अवस्था है। वही अपराजिता है, परमेश्वर की शक्ति पर स्थित है, वह प्रकाश-ही-प्रकाश है।" (छान्दोग्य ८-५)

मौलाना का **आक्षेप ४३**—"स्वर्ग में श्रीमान् ईश्वर जी के नगर, पलँग, और पालकी, पत्नियाँ, इत्यादि के सम्बन्ध में जो प्रमाण हमने दिये हैं, क्या उनको पढ़कर आर्यसमाज वेदों को तिलांजलि न देगा ?"

मौलाना ! इन मन्त्रों में शब्द 'स्वर्ग' का प्रयोग तो 'प्रकाशमय निधि' अर्थात् 'हृदय' के लिए हुआ है। आप इसे कोई स्थानविशेष, अथवा इस संसार से अलग स्थान, कैसे ठहरायेंगे ? इस स्वर्ग की अनुभूति का आनन्द किसी ब्रह्मज्ञानी, समाधिस्थ से पूछिये, फिर शायद आपका मन भी इस स्वर्ग को चाहने के लिए मचल उठे। वह स्वर्ग आपके भीतर विद्यमान है, इसी शरीर में; केवल तपस्या की शर्त है। ज्ञान, ध्यान तथा सतत अभ्यास से वह अमूल्य निधि हाथ आ ही जाती है।

*

स्वर्ग में सुरा

"घी के तालाब, शहद की नहरें, दूध-दही तथा जल की पूरी-भरी धाराएँ, तुझे स्वर्गलोक (सुख के लोक) में प्राप्त हों। तेरे चारों ओर मिठास की वर्षा करती हुई कमलों से भरी झीलें हों।"[1]

"यह (वैद्यों का शिरोमणि) मधु तथा घृत की धारा और अमृत साथ लाया है।"[2]

"त्याग करनेवालों ने, जो बिना बुलाये (सेवा के लिए) उपस्थित हैं, सुगन्धित गृहस्थ प्राप्त किया, सुन्दर तथा सुघड़ वधू का हृदय जीता, और उदारता का हृदय से आनन्द लिया।"[3]

जिस ब्रह्मचारी में त्याग की भावना हो, उसका घर त्याग की सुगन्धि से महक जाता है। सुन्दर युवतियों का हृदय ऐसे बलिदानियों पर स्वयमेव मस्त हो जाता है, और वे उनसे विवाह करने को तैयार हो जाती हैं, और फिर जो उदारता के गुण से आनन्द प्राप्त होता है, वह तो है ही। यहाँ 'सुरा' शब्द का प्रयोग हुआ है; 'सु' का अर्थ है 'अच्छी' तथा 'रा' का अर्थ है 'उदारता', 'दान'।

मौलाना को ऊपर के मन्त्रों में कहीं शराब बहती हुई, और कहीं शराब की नहर, और कहीं अत्यन्त तीव्र शराब की झलक मिली है। अथर्व० ४-३४-६ में शब्द 'सुरोदका' आया है। सुरा का अर्थ 'सींचा हुआ'

---

१. घृतह्लदा मधुकूलाः सुरोदकाः, क्षीरेण पूर्णा उदकेन दध्ना।
एतास्त्वा धारा उप यन्तु सर्वाः स्वर्गे लोके मधुमत् पिन्वमाना।
उप त्वा तिष्ठन्तु पुष्करिणीः समन्ताः ॥ (अथर्व० ४-३४-६)

२. स मायं मणिरागमन्मधोर्घृतस्य धारया कीलालेन मणिः सह ॥
(अथर्व० १०-६-२५)

३. भोजा जिग्युः सुरभिं योनिमग्रे भोजा जिग्युर्वध्वं या सुवासाः।
भोजा जिग्युरन्तःपेयं सुराया भोजा जिग्युर्ये अहूताः प्रयन्ति ॥
(ऋ० १०-१०७-९)

अथवा 'साफ़' और 'उदक' का अर्थ है 'जल'। कहीं कोई व्यक्ति इसका अर्थ शराब न कर दे! यहाँ सुरा का विशेष्य 'उदक' विद्यमान है। यदि यहाँ शराब ही अभीष्ट होता, तो उदक शब्द की आवश्यकता ही नहीं थी। मौलाना ने 'बहती हुई' न जाने किस शब्द का अर्थ समझा? कीलाल 'अमृत' को कहते हैं। मौलाना इसे 'शराब की नहर' बता रहे हैं। इस नहर के साथ आया कौन है?—ईश्वर, जिसका इस मन्त्र में वर्णन ही नहीं। त्याग करनेवाले के वर्णन में सुरा का अर्थ 'ऊँचा त्याग' ही उपयुक्त है।

"निर्मल जल के सींचने तथा अमृत में जो मिठास है, वह मुझमें हो।"[1]

शराब में तो मिठास नहीं होती; और यहाँ जौ की शराब मौलाना को न जाने कहाँ से याद आ गई! सुरा का अर्थ शराब भी होता है, अस्तु; प्रकरण को भी तो देखना चाहिये! और तो और, 'सुरार्चन' जो 'सुर' तथा 'अर्चन' की सन्धि है और जिसका अर्थ है 'देव-पूजन', मौलाना ने इसकी सन्धि भी सुरा+अर्चन कर डाली है। सुर का अर्थ 'देवता', तथा अर्चन का अर्थ 'पूजा' किसी भी कोश में आपको मिल जाएगा, और सुर तथा अर्चन की सन्धि भी इस प्रकार मिलेगी, जो हमने ऊपर निवेदन की है।

"हम इस (वैद्य) के घृत, शुद्ध जल (अथवा शराब), मधु तथा हर प्रकार का भोज्य प्रस्तुत करते हैं। वह वैद्यों का शिरोमणि, दिन-प्रतिदिन पुनः-पुनः आकर हमारी चिकित्सा करे और ऐसा ध्यान रक्खे जैसे पिता अपने आज्ञाकारी पुत्रों का।"[2]

वैद्य के हाथ में शराब भी रामबाण है, इसका प्रयोग यहाँ ओषधि के रूप में हुआ। क्या यहाँ कहीं स्वर्ग की चर्चा भी है? वस्तुतः मौलाना ने स्वर्ग तथा शराब को आधाराधेय मान लिया है। जहाँ बहिश्त देखेंगे, वहीं शराब याद आ जाएगी! तब तो मधुशाला ही 'स्वर्ग' ठहरी!

"जो तेज इन्द्रियों में है, जो उदारता में है, ओ स्त्री-पुरुषो!

---

१. सुरायां सिच्यमानायां कीलाले मधु तन्मयि ।। (अथर्व० ६-६९-१)

२. तस्मै घृतं सुरां मध्वन्नमन्नं क्षदामहे।
स नः पितेव पुत्रेभ्यः श्रेयःश्रेयश्चिकित्सतु भूयोभूयः श्वःश्वो देवेभ्यो मणिरेत्य ।।
(अथर्व० १०-६-५)

जो तेज गौओं में है, उससे वधू को सम्पन्न कर दो।"[1]

"ओ स्त्री-पुरुषो ! जिस सत्य से निष्पाप स्त्री का अन्तस् बनता है, जिससे स्त्री देवी बनती है, जिससे इन्द्रियाँ तथा अंग सींचे जाते हैं, उस सत्य से वधू को सम्पन्न कर दो।"[2]

यहाँ 'वर्च' से अभिप्राय स्त्री का 'सतीत्व' है, इससे स्त्री के अंग चमकते हैं। इससे उसमें योग्य सन्तान उत्पन्न करने की शक्ति प्राप्त होती है, यह सतीत्व उसकी इन्द्रियों को सींचता है। अभिप्राय यह है कि घर के तथा पड़ोस के स्त्री-पुरुषों की दृष्टि इस प्रकार होनी चाहिये, जिससे स्त्रियों का सतीत्व बना रहे। मौलाना को इन मन्त्रों में भी शराब की गन्ध आई है। यही नहीं, जुए तथा अत्यन्त सुन्दर दुष्ट स्त्री की जाँघ तक की कल्पना मौलाना ने कर डाली है। स्वर्ग की भी क्या सुन्दर कल्पना की है ! और फिर यहाँ तो स्वर्ग शब्द भी नहीं आया। यहाँ एक निष्पाप वधू के सतीत्व की सुरक्षा की बात है। वेद उस सुरक्षा की चर्चा करता है। मौलाना किसी दूसरे लोक में हैं, 'सुरा' सुर का स्त्रीलिंग है, अर्थ है देवी; परन्तु आप उसे भी शराब के अर्थ में घसीट रहे हैं ! सचमुच यह तो आप अपने ज़ुहद् (भक्ति) का दुरुपयोग कर रहे हैं।

सौत्रामणि यज्ञ में जो आपने शराब पीने की बात कही है, वह भी सुरा शब्द के अर्थ न जानने के कारण हुई है। आपने स्वयं लिखा है— सौत्रामणि यज्ञ में सोम पीने में शक्ति से अधिक पान से जो रोग उत्पन्न होता है, उसको दूर करने के लिए यह यज्ञ किया जाता है, और इसमें शराब पी जाती है।" (पृष्ठ ९५)

मौलाना ! वह सोम क्या वस्तु है जिसका प्रभाव शराब से दूर किया जाता है ? श्रीमन् ! ये दो ओषधियाँ हैं : एक का प्रभाव दूसरी से दूर किया जाता है। हम ऊपर लिख चुके हैं कि सुरा का अर्थ है 'निकला हुआ शुद्ध निर्मल जल', 'अर्क़', जिसका प्रयोग प्रायः हर वैद्य करता है।

---

१. यच्च वर्चो अक्षेषु सुरायां च यदाहितम्।
यद्गोष्वश्विना वर्चस्तेनेमां वर्चसावतम्॥ (अथर्व० १४-१-३५)

२. येन महानघ्न्या जघनमश्विना येन वा सुरा।
येनाक्षा अभ्यषिच्यन्त तेनेमां वर्चसावतम्॥ (अथर्व० १४-१-३६)

सौत्रामणि का विवाद आपने फिर शतपथ ब्राह्मण के प्रमाण से उठाया है। आपका आरम्भिक कथन है—"इस पुस्तक के सब प्रमाण वेदों से दिये गये हैं, दूसरी पुस्तकों के प्रमाण केवल समर्थन से हैं।"

कृपया बताएँ, यहाँ शतपथ का वचन वेद की किस आज्ञा के समर्थन में प्रस्तुत किया है ?

गन्धर्व तथा अप्सराएँ

गन्धर्व शब्द का अर्थ सर्वप्रथम वेद से जानना चाहिये। यजुर्वेद के १८वें अध्याय में लिखा है—

"अग्नि गन्धर्व है, सूर्य गन्धर्व है, चन्द्रमा गन्धर्व है, वायु गन्धर्व है, यज्ञ गन्धर्व है, मन गन्धर्व है।"[1]

गन्धर्व का शब्दार्थ है 'किरणों का सहारा'। यदि इस प्रकाश को आत्मिक प्रकाश मान लें, तो स्वयं परमेश्वर गन्धर्व है। वेद में कहा है—

"प्रकाशस्वरूप गन्धर्व, जो सारे जगत् का एक ही स्वामी है, एक ही पूजनीय सबकी अर्चना का केन्द्र है, तेजस्वरूप मैं उस तेरे स्वरूप से वेद द्वारा मिलाप प्राप्त करता हूँ। तुझे मेरा प्रणाम हो, तेरा स्थान प्रकाशलोक में है।"[2]

परमेश्वर के पश्चात् गुरु को गन्धर्व कहते हैं। गन्धर्व का एक और अर्थ भी है—'वाणी को स्थिर रखनेवाला'; यह अर्थ भी ईश्वर एवं गुरु दोनों पर लागू होता है। परमेश्वर वेद के द्वारा मनुष्य को भाषा का ज्ञान देनेवाला है, और गुरु शिष्य को भाषा-ज्ञान द्वारा हर प्रकार का ज्ञान सिखाता है। यजुर्वेद में कहा है—

"दिव्य प्रकाशस्वरूप गन्धर्व, बुद्धि को पवित्र करनेवाला,

---

१. ऋताषाड् ऋतधामाग्निर्गन्धर्वः। (यजुः० ३८)
   सँहितो विश्वसामा सूर्यो गन्धर्वः। (यजुः० ३९)
   सुषुम्णः सूर्यरश्मिश्चन्द्रमा गन्धर्वः। (यजुः० ४०)
   इषिरो विश्वव्यचा वातो गन्धर्वः। (यजुः० ४१)
   भुज्युः सुपर्णो यज्ञो गन्धर्वः। (यजुः० ४२)
   प्रजापतिर्विश्वकर्मा मनो गन्धर्वः। (यजुः० १८-४३)

२. दिव्यो गन्धर्वो भुवनस्य यस्पतिरेक एव नमस्यो विक्ष्वीड्यः।
   तं त्वा यौमि ब्रह्मणा दिव्य देव नमस्ते अस्तु दिवि ते सधस्थम्॥
   (अथर्व० २-२-१)

हमारी बुद्धि को पावन बनावे। वाणी का स्वामी हमारी वाणी को मिठास से युक्त करे।"[1]

गाने-बजानेवालों को भी गन्धर्व कहते हैं, क्योंकि वे भी वाणी के प्रयोग में अर्थात् स्वर के आरोह-अवरोह में निपुण होते हैं। सम्भव है कि यह गान-विद्या नीच प्रकृति के लोगों के हाथ में आ जावे, और इस विद्या का दुरुपयोग होने लगे, नहीं तो गाना-बजाना अपने-आप में निन्द्य कर्म नहीं है। उर्दू भाषा में शब्द **'उस्ताद'** जो गुरु का अनुवाद है, अच्छा शब्द है। परन्तु **'उस्ताद जी'** किसी अच्छे व्यक्ति को नहीं कहते। साधारण कोशों में जो वेदकाल के पीछे बने हैं, जहाँ गन्धर्व का अर्थ गानेवाला दिया है, वहाँ ज्ञानी और सूर्य भी अर्थ किया गया है।

'स्वर्ग' सुख तथा आराम से भरे घर को कहते हैं। इसमें जहाँ सुख के अन्य साधनों का वर्णन आया है, वहाँ लिखा है—

"जो सन्तति-विस्तार का यज्ञ करते हैं, उनपर दुर्भाग्य कभी नहीं आता। यम-नियम पर चलनेवाला स्थिर रहता है, वह देवताओं की संगति करता है, और आत्मिक आनन्द से युक्त गुरुओं (गान-विद्या में निपुण लोगों, गन्धर्वों) के साथ प्रसन्नता से रहता है।"[2]

वेद ने यहाँ स्वर्ग-सुख का आनन्द लेनेवाले गृहस्थ को यम-नियमित जीवन व्यतीत करनेवाला कहा है जो सार्थक है। ऐसा व्यक्ति यदि संगीत भी सुनेगा तो उससे आत्मिक लाभ प्राप्त करेगा। वह विलासी तो है नहीं। गाने-बजानेवालों को भी आत्मिक सन्तोष का साकार रूप कहा गया है। जो अपनी भावनाओं पर अधिकार रखते हैं, वे दूसरे की भावनाओं को भड़कने न देंगे, उन्हें शान्त करेंगे। मौलाना ने इस मन्त्र के अर्थ में लिखा है—"वह यम के पास रहता है, वह सोम-रस पाकर..." न जाने किन शब्दों का यह अनुवाद है?

वेद शरीर के सम्बन्ध में कहता है—

"यह तपस्वी का घर है, जिसे देवताओं द्वारा निर्मित कहा जा

---

१. दिव्यो गन्धर्वः केतपूः केतन्नः पुनातु वाचस्पतिर्वाचं नः स्वदतु। (यजुः० ११-७)

२. विष्टारिणमोदनं ये पचन्ति नैनानवर्तिः सचते कदा चन।
आस्ते यम उप याति देवान्त्सं गन्धर्वैर्मदते सोम्येभिः॥ (अथर्व० ४-३४-३)

सकता है। इसमें जो रगें फूँकी जाती हैं, तो (उनके) संगीत से मानसिक पवित्रता होती है।"[1]

योगी प्राणायाम के अभ्यास से शरीर की रगों को जैसे वीणा बना लेता है, उससे अनाहत (अनहद) नाद सुनता है। इस मन्त्र में गन्धर्व शब्द ही नहीं, परन्तु संगीत है। मौलाना को अनायास ही **'उस्ताद जी'** का ध्यान आ गया।

"ईश्वर के स्थिर, एकाग्र ध्यान में, योगी अपने विचारों से घी के समान दोनों लोकों का रस प्राप्त करते हैं, धरती-आकाश का आनन्द लेते हैं।"[2]

यहाँ गन्धर्व एकवचन में है, जिसका अर्थ परमेश्वर है; परन्तु मौलाना नें इसे बहुवचन में कहकर अर्थ किया है—'गन्धर्वों के स्थिर लोक में'।

"विश्व का बसानेवाला, सब गतिशील पदार्थों का अनुमान रखनेवाला (सीमा रखनेवाला), प्रंकाशस्वरूप गुरु (अनादि) हमें वह उपदेश दे, जो सत्य है, परन्तु हम नहीं जानते। हमारी बुद्धि को प्रेरित करके हमारी रक्षा करे।"[3]

मौलाना का अर्थ इस प्रकार है—"यह गीत विश्वावसु गन्धर्व, बहिश्ती गन्धर्व, मध्याकाश का वासी हमें गाकर सुनाएगा।" जरा पूछिये, यहाँ गीत किस शब्द का अर्थ है? और मध्याकाश-वासी किस शब्द का?

छान्दोग्य उपनिषद् में आत्मा को जाननेवाले की अवस्था का वर्णन किया गया है कि वह जिस वस्तु को चाहता है, उसके कल्पना-लोक में वह उसके सम्मुख आ जाती है। उनमें एक वस्तु संगीत भी है। "यदि उसकी कामना संगीत की होती है, तो उसकी कल्पना से संगीत तथा वाद्य-साधन प्रस्तुत हो जाते हैं, इससे संगीत के आनन्द को पाकर वह

---

१. इदं यमस्य सादनं देवमानं यदुच्यते।
इयमस्य धम्यते नाळीरयं गीर्भिः परिष्कृतः॥ (ऋ० १०-१३५-७)

२. तयोरिद् घृतवत् पयो विप्रा रिहन्ति धीतिभिः।
गन्धर्वस्य ध्रुवे पदे॥ (ऋ० १-२२-१४)

३. विश्वावसुरभि तन्नो गृणातु दिव्यो गन्धर्वो रजसो विमानः।
(ऋ० १०-१३९-५)

प्रसन्न हो जाता है।"[1]

गीत तो आत्मा का गान है, जो योगियों को सुनाई देता है। आत्मा की शक्तियों का अनुमान भी योगियों को ही होता है। मज़ा यह कि छान्दोग्य में इस गीत के सुनाई देने की अवस्था को **'गीत-वादित्रलोक'** कहा है, अर्थात् संगीत का लोक। हमें आश्चर्य है कि यहाँ मौलाना ने लोक का अर्थ कोई स्थानविशेष क्यों नहीं किया ?

गन्धर्व शब्द की जो अवस्था है, वही अप्सरा शब्द की है। यजुर्वेद में अप्सरा शब्द के निम्न अर्थ हैं—

"ओषधियाँ अप्सराएँ हैं, किरणें अप्सराएँ हैं, नक्षत्र अप्सराएँ हैं, जल अप्सराएँ हैं, दक्षिणाएँ अप्सराएँ हैं, ऋग् तथा सामवेद के मन्त्र अप्सराएँ हैं।"

आपका अर्थ है यज्ञ; जो यज्ञ में सरण-गति करे, उसे अप्सरा कहते हैं। परमेश्वर की माया को, यहाँ तक कि वेदमन्त्रों को अप्सरा कहा गया है।

अब यदि किसी स्वर्ग में वेदों का संगीत सुनाई देता रहे, परमेश्वर का उपदेश-ही-उपदेश सुनने को मिलता रहे, तो किसी योगी को और क्या चाहिये ? वेद का आदेश है—

"हमपर वह गन्धर्व कृपा करे, जो विश्व का एकमात्र स्वामी है, जो एकमात्र पूजा के योग्य है, और जो सुख तथा आनन्द का केन्द्र है।"[2]

"हमने इन पवित्र अप्सराओं—वेदमन्त्रों के दर्शन किये, इनमें भी आदिगुरु का स्वरूप था। मेरे हृदय को इन मन्त्रों का घर कहते हैं। इसमें ये अप्सराएँ शीघ्र ही आती हैं, और तत्काल चली जाती हैं।"[3]

"मेघाच्छादित आकाश में अथवा नक्षत्रों से देदीप्यमान

---

१. अथ यदि गीतवादित्रलोक कामा भवति संकल्पादेवास्य गीतवादित्रे समुतिष्ठतः। (छांदोग्य ४-२-४)

२. मृडाद् गन्धर्वो भुवनस्य यस्पतिरेक एव नमस्यः सुशेवाः। (अथर्व० २-२-२)

३. अनवद्याभिः समु जग्म आभिरप्सरास्वपि गन्धर्व आसीत्।
समुद्र आसां सदनं म आहुर्यतः सद्य आ च परा च यन्ति॥ (अथर्व० २-२-३)

आकाश में (जो वेद की झाँकियाँ) तुम संसार के बसानेवाले आदि गुरु से मिली हुई हों, ओ आत्मिक शक्तियो, मैं तुम्हें प्रणाम करता हूँ।"[1]

"जो करुणाभरी, तम को दूर करनेवाली, आनन्द की अनुभूति देनेवाली, मन को लुभानेवाली, आदिगुरु की धर्म-संगिनियाँ, यज्ञ की शक्तियाँ हैं, मैं उन्हें प्रणाम करता हूँ।"[2]

'पत्नी' शब्द का अर्थ हम किसी पिछले अध्याय में 'स्त्री' कर चुके हैं, जो यज्ञ में अपने पति का साथ देने के लिए उसकी आयु-भर संगिनी बनती है। दूसरे अर्थों में, हर उस शक्ति को जिससे यज्ञ किया जाए, पत्नी कहा जाता है, जैसे ऊपर के मन्त्रों में यज्ञ की दक्षिणा को 'यज्ञ की अप्सरा' कहा गया है। वास्तविकता यह है कि अप्सरा का अर्थ भी यज्ञ में चलनेवाली है, अर्थात् पत्नी। परमेश्वर की दो पत्नियों, लक्ष्मी तथा श्री का वर्णन भी इससे पूर्व हम कर चुके हैं। वह परमेश्वर की भौतिक तथा आत्मिक शक्तियों का नाम है। यहाँ वेदमन्त्रों को अप्सराएँ कहा गया है, क्योंकि वेद की ऋचाएँ परमेश्वर की सदा की सेविकाएँ हैं। योगी को यह आत्मिक आनन्द नक्षत्रों से चमकती रात्रि में नक्षत्रों द्वारा प्राप्त होता है, और मेघाच्छादित रात्रि में मेघों के गर्जन से सुनाई देता है। बृहदारण्यक उपनिषद् ३-३-१ तथा ३-७-१ में दो देवियों का वर्णन है, जिन्हें गन्धर्वग्रहीता कहा गया है। गन्धर्व का अर्थ है मन, हम यजुर्वेद १८-४३ के प्रमाण से बता चुके हैं। इस समय भी सृष्टि-विज्ञान की पुस्तकों में ऐसे व्यक्तियों के उदाहरण लिखे जाते हैं जो विभिन्न समयों में विभिन्न व्यक्तियों की बौद्धिक अवस्था को धारण कर लेते हैं। हिप्नॉटिज़्म के द्वारा एक व्यक्ति कुछ काल के लिए अपने मौलिक (असली) व्यक्तित्व को बदल लेता है। कई लोगों की अवस्था तो हिप्नॉटिज़्म के बिना भी ऐसी हो सकती है। कई उदाहरण मिलते हैं जिनमें कुछ व्यक्तियों का व्यक्तित्व कई वर्षों तक परिवर्तित रहा। कुछ वर्षों के अन्तर में नाना प्रकार के व्यक्तित्व धारण करने की

---

१. अभ्रिये दिद्युन्नक्षत्रिये या विश्वावसुं गन्धर्वं सचध्वे ।
ताभ्यो वो देवीर्नम इत्कृणोमि ।। (अथर्व० २-२-४)

२. याः क्लन्दास्तमिषीचयोऽक्षकामा मनोमुहः ।
ताभ्यो गन्धर्वपत्नीभ्योऽप्सराभ्योऽकरं नमः ।। (अथर्व० २-२-५)

घटनाएँ भी सामने आई हैं। कुछ वर्ष पूर्व एक ही शरीर में कई आत्माओं के प्रवेश करने का अनुमान प्रस्तुत किया जाता था। थियोसोफ़िस्ट लोग इसपर अधिक बल देते थे, परन्तु दार्शनिकों को यह मत कभी उपयुक्त नहीं लगा। बुद्धि-विज्ञान की पुस्तकों में भी इस दृष्टिकोण को स्थान नहीं मिला। बुद्धि-विज्ञान के विद्वानों का विचार है कि एक ही व्यक्ति में विभिन्न व्यक्तित्व और नाना प्रकार के व्यक्तित्व के दर्शन का कारण एक ही व्यक्ति के शरीर में एकदम अथवा क्रमशः, नाना प्रकार की आत्माएँ प्रविष्ट हो जाती हैं, ऐसा सम्भव नहीं; अपितु इसका कारण एक ही व्यक्ति के जीवन में बौद्धिक अवस्थाओं, विभिन्न-व्यवस्थाओं के रूप में इकट्ठा होना है। प्रायः जब हम किसी एक कार्य में अधिक व्यस्त होते हैं, तो अपने दूसरे कार्यों को भूल जाना साधारण-सी बात है। जैसे एक नाटक को देखते हुए अथवा उपन्यास को पढ़ते हुए, एक व्यक्ति अपनी अवस्था अथवा कार्यधन्धे को भूल जाए तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। प्राध्यापक पढ़ाते समय केवल प्राध्यापक होता है, घर में अपने पुत्रों का पिता; दोनों अवस्थाओं में बौद्धिक भिन्नता होती है। हर बौद्धिक अवस्था की एक अलग व्यवस्था होती है। कुछ व्यक्तियों के जीवन में ऐसी व्यवस्थाएँ एक-दूसरे से इतनी दूर हो जाती हैं कि एक के रहते दूसरे का अस्तित्व भी खो जाता है। यह खो जाने की अवस्था घण्टों, दिनों, मासों तथा वर्षों तक भी रह सकती है। यह खो जाने की अवस्था, मनुष्य की साधारण बुद्धि, एक असाधारण बौद्धिक व्यवस्था के आधीन होती है। संस्कृत की परिभाषा में गन्धर्व अर्थात् मन, गृहीत अर्थात् रुका हुआ होता है। ऐसी दो देवियों का वर्णन बृहदारण्यक उपनिषद् में है। इस मस्ती की अवस्था में उनसे पूछा गया कि तुम कौन हो ? एक का उत्तर था सुधन्वाङ्गिरस, दूसरी ने कहा, कबन्धाथर्वन। बुद्धिविज्ञान के द्वारा असाधारण अथवा परिवर्तित व्यक्ति द्वारा नाम का परिवर्तित हो जाना प्रमाणित हो चुका है। यह इस जीवन अथवा किसी पूर्व-जन्म के प्रभाव से सम्भव है। इस मस्ती की अवस्था में ऊपर लिखित देवियों से कुछ ऐसी बातें पूछी गईं जो साधारण अवस्था में वे न बना सकतीं; परिवर्तित अवस्था में यह अब भी प्रायः होता है।

वर्तमान समय के ऐसे उदाहरणों के लिए Prince की पुस्तक

'Unconscious' को पढ़िये। इस गन्धर्व का स्वर्ग से कोई सम्बन्ध नहीं है।

"जो देवता, पितर, साधारण मनुष्य, गुरु इत्यादि हैं, वे सब तेरी रक्षा करेंगे; तू इस अँधेरे से निकल।"[1]

यहाँ गन्धर्व तथा अप्सरा को रक्षा करनेवालों में गिना गया है। देवताओं तथा पितरों के साथ इनका वर्णन है। और देखिये—

"देवता, पितर, साधारण मनुष्य, गन्धर्व, अप्सराएँ यज्ञशेष से अथवा परमेश्वर की कृपा से उत्पन्न हुए।"[2]

जो लोग यज्ञ अर्थात् परोपकार करने के पश्चात् जो बच जाये, उसे अपने प्रयोग में लाते हैं (यज्ञशेष का प्रयोग करते हैं) वही इन उच्च पदों को प्राप्त करते हैं। उच्छिष्ट का एक अर्थ तो यह है, दूसरा अर्थ है 'परमेश्वर', जो बड़ा है और शेष (बाक़ी) रहता है। उच्छिष्ट के शब्दार्थ हैं शेष। परमेश्वर सबसे बड़ा यज्ञ करता है, सारी प्रजा में सब-कुछ बाँटकर भी उसका आनन्द वैसा ही रहता है। वह बाक़ी है, शेष है और शेष ज़गत् नश्वर है। सत्य तो यह है कि परोपकार के कार्य में जो आनन्द एक उदारहृदय व्यक्ति को प्राप्त होता है, वह परमेश्वर की ही देन है। यज्ञशेष में परमेश्वर है। जो सर्वस्व दान करता है, वह अपने लिए परमेश्वर को ही तो शेष रखता है।

"गन्धर्वों, अप्सराओं, अश्विनों तथा वैद्यों, वेदविद्या के स्वामी तथा जो न्यायकारी हैं, उन सबसे हमारी प्रार्थना है कि हमें पाप से तथा दुरवस्था से बचाएँ।"[3]

"जो उदारहृदय अध्यापक तथा अध्यापिकाएँ एकान्त-स्थित हैं, सर्प तथा दुष्ट प्रकृति के व्यक्ति उनके विरोधी हैं।"[4]

---

१. देवाः पितरो मनुष्या गन्धर्वाप्सरसश्च ये।
ते त्वा सर्वे गोप्स्यन्ति सातिरात्रमति द्रव॥ (अथर्व० १०-९-९)

२. देवाः पितरो मनुष्या गन्धर्वाप्सरसश्च ये।
उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिविश्रितः॥ (अथर्व० ११-७-२७)

३. गन्धर्वाप्सरसो ब्रूमो अश्विना ब्रह्मणस्पतिम्।
अर्यमा नाम यो देवस्ते नो मुञ्चत्वंहसः॥ (अथर्व० ११-६-४)

४. ये उदारा अन्तर्हिता गन्धर्वाप्सरसश्च ये।
सर्पा इतरजना रक्षांसि॥ (अथर्व० ११-९-१६)

"ओ सेनानायक ! अध्यापक, अध्यापिकाएँ, कर्मठ योगी, पवित्र आत्माएँ, इन सबके दर्शन शत्रुओं को करा और उदारता दिखा।"[1]

शत्रुता को प्रेम तथा शिक्षा द्वारा जीतना रक्तपात की क्रिया से अधिक श्रेयस्कर है।

*

---

१. गन्धर्वाप्सरसः सर्पान् देवान् पुण्यजनान् पितॄन्।
सर्वास्ताँ अर्बुदे त्वममित्रेभ्यो दृशे कुरूदारांश्च प्र दर्शय॥ (अथर्व० ११-९-२४)

उस्ताद जी

हम इससे पूर्व निवेदन कर चुके हैं कि गन्धर्व का अर्थ है—उस्ताद (गुरु)। आदिगुरु को भी गन्धर्व कहते हैं और आजकल के गुरु-पीरों को भी। संगीत के विद्वान् भी उस्ताद कहलाते हैं। सत्य तो यह है कि स्वर के सम्बन्ध में जो पाण्डित्य उनका होता है, वह अन्य किसी का नहीं हो सकता। स्वर, ताल, राग तथा स्वर का आरोह-अवरोह, इससे वे लोग किसी भी रस को जगा अथवा समाप्त कर सकते हैं। हर विद्या के समान इस विद्या में निपुणता आवश्यक होती है। आत्मिक पथ के पथिक इस विद्या से विशेष लाभ उठाते हैं। कोई निपुण गायक, अपनी मीठी आवाज़ में भावनायुक्त होकर जब ईश्वर-स्तुति के गीत गाता है, तो सुननेवाला एकाग्र हो जाता है। और तो और, योगी लोग पक्षियों के कलरव को सुनकर, वहीं एकाग्रता प्राप्त कर लेते हैं। आर्य-साहित्य में गान-विद्या का उच्च स्थान है। यहाँ तक कि उसे गन्धर्ववेद कहा गया है, जिसका मूल सात स्वर हैं। यह वेद स्वर-ताल में गाया जाता है। इसमें सबके-सब ईश्वर-भक्ति के गीत ही हैं। वेद ब्रह्मचारी को गन्धर्व कहता है, क्योंकि उसने प्रभु की वाणी को अपने हृदय में स्थान दिया होता है। यह सब-कुछ होते हुए भी वेद इस तथ्य से अपरिचित नहीं कि जहाँ गान-विद्या का प्रयोग आत्मोन्नति में किया जा सकता है, जिससे सतोगुणी भावनाएँ जाग्रत हुईं, वहाँ इस विद्या का दुरुपयोग भी सम्भव है। उस्ताद का विपरीतार्थक शब्द 'उस्ताद जी' भी तो है! गुरु या मुरशिद पूज्य व्यक्ति होता है, परन्तु यदि किसी को कहिये 'यह तो गुरु ठहरे!' तब यह शब्द स्पष्ट गाली है। यही अवस्था 'गन्धर्व' शब्द की है। कहाँ उस्तादे-अज़ल और कहाँ उस्ताद जी! कहाँ सत् गुरु, जगत् गुरु और कहाँ 'यह गुरु है'! ऐसे गुरुओं के सम्बन्ध में वेद में कथन है—

"कोई कुत्ते के समान, कोई बन्दर के समान, कँआरा बालों

को सजाये (जिसका सारा अस्तित्व बालों में है), प्रिय रूप बनाकर जो गुरु स्त्रियों के समीप रहता है, हम वेद के प्रभावी उपदेश द्वारा उसे इस मार्ग से हटाते हैं।"[1]

अप्सरा का अर्थ भी ऐसे ही बिगड़ा है। गन्धर्व की शक्ति अप्सरा है। इस शब्द के उपर्युक्त अर्थ तो थे—वह स्त्री या शक्ति, जो यज्ञ में साथ देती है, और अर्थ बिगड़े तो बुरा—वह स्त्री या कर्म, जो यज्ञ का ध्वंस करे। पुराणों में ऐसी कई कथाएँ मिलती हैं, जिनमें किसी तपस्वी के तप को भंग करने के लिए अप्सरा का आगमन हुआ। ये यज्ञ करने-वालों का ध्यान यज्ञ से हटाकर वासनाओं में लगा देती हैं। वेद में कहा है—

"उस मोर के समान नाच रहे गुरु के जो अप्सराओं (भटकाने की कलाओं) का स्वामी है, गुप्तांग को बाँधता हूँ।"[2]

ऐसे व्यक्तियों को सन्मार्ग पर लाने का साधन है—उपदेश। उनकी बुरी इच्छाओं को वश में करके उन्हें सन्मार्ग पर लाना धार्मिक जनों का कार्य है।

"जो स्त्री-पुरुष गुरु हैं, लोभी, निन्दक, मांसाहारी, दुष्ट प्रवृत्ति के हैं, उन्हें तो ऐ राजनीति के पण्डितो! हमसे अलग कर दो।"[3]

"जो पापों से सुरक्षा का ध्यान करता है, न उस्ताद जी, न उस्तानी जी, और न मनुष्य उसका सत्यानाश कर सकते हैं।"[4]

अथर्ववेद में इस सूक्त का विषय है प्रतिसर्मणी, अर्थात् तितिक्षा

---

१. श्वेवैकः कपिरिवैकः कुमारः सर्व केशकः।
प्रियो दृश इव भूत्वा गन्धर्वः सचते स्त्रियस्तमितो नाशयामसि ब्रह्मणा वीर्यावता॥ (अथर्व० ४-३७-११)

२. आनृत्यतः शिखण्डिनो गन्धर्वस्याप्सरापतेः।
भिनद्मि मुष्कावपि यामि शेपः॥ (अथर्व० ४-३७-७)

३. ये गन्धर्वा अप्सरसो ये चारायाः किमीदिनः।
पिशाचान्त्सर्वा रक्षांसि तानस्मद् भूमे यावय॥ (अथर्व० १२-१-५०)

४. नैनं घ्नन्त्यप्सरसो न गन्धर्वा न मर्त्याः।
सर्वा दिशो वि राजति यो बिभर्तीमं मणिम्॥ (अथर्व० ८-५-१३)

की मणि। यह मोती जिसने धारण कर लिया, उससे कुमार्गगामी स्त्री-पुरुष सब दूर रहते हैं। फिर देखिये—

"जो नवजात शिशु को अचानक मार देते हैं, जो प्रसूता स्त्री के पास शयन करते हैं, ऐसे स्त्रियों में तीन गुरुओं को क्रोधयुक्त (लाल नेत्रोंवाला) विधान इस प्रकार हटा दे जैसे वायु बादलों को हटाती है।"[1]

प्रसूता के साथ संग करने से बच्चा मर जाता है। ऐसा संग राज्य-नियम से निषिद्ध होना चाहिए। जो यह अपराध करे, उसे दण्ड मिलना चाहिए। स्वयं स्त्री को भी अपने लाल नेत्र (क्रोध) दिखाने चाहिएँ।

शतपथ ब्राह्मण ३-२-१-४० का प्रमाण मौलाना ने दिया है, परन्तु वहाँ तो 'गन्धर्व' शब्द ही नहीं आया। वहाँ यह वर्णन है कि यदि यज्ञ से (विधिपूर्वक संस्कारों से) सन्तान उत्पन्न की जाए तो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य होती है; बिना यज्ञ के सन्तान राक्षस उत्पन्न होती है। मौलाना से कोई पूछे कि राक्षस का स्वर्ग से क्या सम्बन्ध ? मौलाना का अन्तःकरण तो इस घटिया अनुवाद से ही स्पष्ट हो जाता है। जो अनुवाद मौलाना ने इस प्रमाण का किया है, इसे हम यहाँ नहीं लिखेंगे। असम्बद्ध तथा अश्लील संकेत तो मौलाना की विशेषता है, जिसे देखकर दर्शक के मन में जो धर्मप्रचारकों के सम्बन्ध में सम्मान की भावना है, वह समाप्त हो जाती है।

अथर्ववेद में दो स्थानों पर शब्द 'कुम्भमुष्क' प्रयुक्त हुआ है। आठवें काण्ड के छठे सूक्त में स्त्री-जाति की सुरक्षा तथा विशेषरूप से गर्भवती स्त्री की रक्षा-सम्बन्धी शिक्षा दी गई है। मन्त्र १५ में योगी, वेद-ज्ञाता पति को शिक्षा दी गई है—

"जिनका मुख तो आगे है, परन्तु पाँव की गति उलटी है (शब्दार्थ—पाँव का अग्रभाग पीछें तथा एड़ियाँ आगे हैं), जो दुष्टता की सन्तान है, शक्ति के घमंड की सन्तान शेख़ी मारनेवाले सत्यानाशी हैं, अथवा जो Hydrocale (अण्डवृद्धि) के रोगी हैं, अथवा नपुंसक हैं, उनको इन विरोधी कल्पनाओं के द्वारा इस स्त्री

---

१. ये अम्नो जातान् मारयन्ति सूतिका अनुशेरते।
स्त्रीभागान् पिङ्गो गन्धर्वान् वातो अभ्रमिवाजतु॥ (अथर्व० ८-६-१६)

के मस्तिष्क से दूर रख।"[1]

भाव यह है कि दुष्ट पुरुषों का विचार तक स्त्री को न आने पावे। गर्भ के दिनों में यदि कोई कुरूप व्यक्ति स्त्री के सम्मुख आवे, और उसका रूप स्त्री के मस्तिष्क में टिक जावे, तो सन्तान कुरूप उत्पन्न हो सकती है। यही अवस्था पाप-कर्मों की है। जब बच्चा गर्भ में हो तो गर्भवती स्त्री के सम्मुख स्वस्थ, सुन्दर, शक्तिशाली, प्रेरणादायक दृश्य होने चाहिएँ। नपुंसक अथवा किसी स्त्री-पुरुष के गुप्त रोगों के रोगी, गर्भवती के सम्मुख न आवें। इसके विपरीत अच्छे चित्र दिखाएँ तथा बोधक कथाएँ उसे सुनानी चाहिएँ। 'कुम्भमुष्क' का अर्थ यहाँ अण्डवृद्धि का रोगी है। यह वर्णन उन रोगों का है जिनकी कल्पना भी गर्भवती स्त्री को नहीं करनी चाहिये। मौलाना ने अर्थ किया है—

"जिनके अण्डकोश बड़े घड़े के बराबर हों, उनके विलासांगों को प्राप्त करने की प्रार्थना वेद में की गई है।"[2] (पेज ११२)

वेद में तो लिखा है—'उन्हें दूर रख, उनसे सीखना कैसा?' मौलाना! सच कहना, क्या यह ग़िलमान (स्वर्ग में प्राप्त होनेवाले सुन्दर लौण्डे) का उत्तर है? ग़िलमान तो बहिश्त का मेवा है और वैदिक स्वर्ग तो कुम्भमुष्क की कल्पना से भी दूर है, इनमें तो धरती-आकाश का अन्तर है!

११वें काण्ड के ६वें सूक्त में युद्ध की सामग्री का वर्णन आया है। वहाँ १७वें मन्त्र में हाथियों का भी वर्णन है—

चार प्रकार के दाँतों वाले (दो पंक्तियाँ अन्दर की तथा दो बाहिर के दाँत), नीले रंग के दाँतों वाले, शक्तिशाली मस्तक वाले, खूँख़ार मुखवाले, निर्भीक शत्रु को भयभीत करनेवाले (हाथियों का) प्रयोग कर!

यहाँ 'कुम्भमुष्क' का अर्थ है शक्तिशाली मस्तकवाले। कुम्भ हाथी के मस्तक को कहते हैं, और मुष्क का अर्थ है शक्ति। मस्तक की शक्ति-

---

१. येषां पश्चात् प्रपदानि पुरः पार्ष्णीः पुरो मुखा। खलजाः शकधूमजा उरुण्डा ये च मट्मटाः कुम्भमुष्का अयाशवः। तानस्या ब्रह्मणस्पते प्रतीबोधेन नाशय॥ (अथर्व० ८-६-१५)

२. चतुर्दंष्ट्रांछ्यावदतः कुम्भमुष्काँ असृङ्मुखान्। स्वभ्यसा ये चोद्भ्यसाः॥ (अथर्व० ११-६-१७)

वाले को 'कुम्भमुष्क' कहा जाएगा। यहाँ न स्वर्ग है न गन्धर्व। मौलाना को हाथी देखकर 'ग़िलमान' याद आ जाते हैं !

वेद में बहुविवाह का निषेध

मौलाना की पुस्तक एक रूप से मामूनेमुरक्कब (कहीं की ईंट, कहीं का रोड़ा, भानमती ने कुनवा जोड़ा) है, जिसमें दवाइयाँ तो कई हैं, परन्तु उनके प्रयोग का पता लगाना कठिन है। कहाँ तो स्वर्ग का विषय ले चले थे और कहाँ त्रिविष्टप पर जा पहुँचे ! त्रिविष्टप वेद में न मिले, तो इसमें मौलाना का क्या दोष ? एक प्रश्न तो उन्होंने इस शब्द पर कर ही डाला। पुस्तक समाप्त करते-करते उन्हें विचार आया कि उन्हें वेद में बहुविवाह की आज्ञा भी खोज लेनी चाहिए। यदि इस विषय का उनके लिखे गए 'बहिश्त' के विषय से सम्बन्ध न भी हो तो क्या मौलाना इसका प्रमाण भी न दें ? लगता है कि मौलाना का हृदय तो यह स्वीकार कर चुका है कि वेद में वर्णित स्वर्ग वस्तुतः इसी जीवन के सुखकाल का नाम है, और उसका एक रूप गृहस्थाश्रम में मिलता है। इसलिये सांसारिक विवाह आदि की चर्चा स्वर्ग के विवाह में छेड़ी है, नहीं तो मौलाना इस असम्बद्ध विवाद में क्यों पड़ते ? वेद-मन्त्र देकर लिखते हैं—

> "यह जो माता के सम्मुख बहिन घी लिये खड़ी है, उनके आगे अध्वर्यु (अहिंसक यज्ञ करनेवाला) इस प्रकार प्रसन्न होता है जैसे वर्षा के होने पर हरी-हरी जौ।"[1]

परन्तु मौलाना, यहाँ तो विवाह की बात ही नहीं है, माता तथा बहिन के दर्शन की प्रसन्नता है। आप न जाने इस प्रसन्नता में क्या देख रहे हैं कि इसपर भी प्रश्न कर दिया है !

> "अत्यन्त प्रकाशलोक में योगी को दस (सूक्ष्म) बहिनें संगीत सुनाती हैं।"[2]

---

१. यदी मातुरुप स्वसा घृतं भरन्त्यस्थित।
तासामध्वर्युरागतौ यवो वृष्टीव मोदते ॥ (ऋ० २-५-६)

२. तमीमण्वीः समर्य आ गृभ्णन्ति योषणो दश।
स्वसारः पार्ये दिवि ॥ (ऋ० ९-१-७)

दस बहिनों से अभिप्राय पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ तथा पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं। बहिनों से बहुविवाह का क्या सम्बन्ध ? वेद की इस आज्ञा को स्वयं मौलाना ने लिखा है—

"वह पापी कहाता है जो बहिन से भोग करे।"[1]

यहाँ संख्या दस थी; कहीं केवल इन्द्रियों का वर्णन सात में होता है—दो नेत्र, दो कान, दो नथुने तथा एक मुख। पाँचों इन्द्रियाँ इन सात अंगों में आ जाती हैं। वेद की आज्ञा है—

"प्रकाशस्वरूप परमेश्वर के पास तुझ योगी को सात बहिनें संगीत से प्रेरणा देती हुई मस्त कर रही हैं।"[2]

इन मन्त्रों में अलंकृत वर्णन द्वारा सात बहिनों के संगीत का वर्णन किया गया है। जिसकी आत्मा पवित्र है, उसकी कल्पना से यदि कोई भावना जागृत होती है तो अत्यन्त पवित्र होती है।

बहुविवाह का निषेध तो वेद में भी विद्यमान है। वेद के सुन्दर काव्य में तो स्त्री का हृदय बन्द करके रख दिया गया है। वह अपने पति से कहती है—

"तू अकेला मेरा हो, दूसरी किसी की चर्चा न कर।"[3]

वेद में बहुविवाह के इतने स्पष्ट निषेध के पश्चात् भी मौलाना का वेद से बहुविवाह-सिद्धि का प्रयास दुस्साहस नहीं तो और क्या है ?

दो विवाह करनेवालों की क्या दुर्गति होती है, वेद के स्पष्ट शब्दों में देखिये—

"दो पत्नियों वाला व्यक्ति घर में इस प्रकार रहता है, जैसे दो धुरियों में दबा हुआ बैल !"[4]

वेद के इस स्पष्ट आदेश को पढ़कर कोई भी निष्पक्ष पाठक इस भ्रम में नहीं आ सकता कि वेद में बहुविवाह की आज्ञा है। परन्तु मौलाना

---

१. पापमाहुर्यः यः स्वसारं निगच्छात् ।। (अथर्व० १८-१-१४)

२. समु त्वा धीभिरस्वरन् हिन्वतीः सप्त जामयः।
विप्रमाजा विवस्वतः ।। (ऋ० ९-६६-८)

३. पतिं मे केवलं कृधि। (अथर्व० ३-१८-२)
ममेदसस्त्वं केवलो नान्यासां कीर्तयाश्चन ।। (अथर्व० ७-३८-४)

४. उभे धुरौ वह्निरापिब्दमानोऽन्तर्योनेव चरति द्विजानिः। (ऋ० १०-१०१-११)

को कोई क्या कहे! मौलाना केवल बहुविवाह के प्रश्न तक सीमित रहनेवाले भी नहीं हैं। वे जानते हैं कि आर्यों में एक गोत्र में विवाह नहीं होता। विवाह का सम्बन्ध दूर-दूर (दुहिता, दूरे हिता) किया जाता है। इस तथ्य को वेद ने इन शब्दों में कहा है--

> "जो वयस्क दूल्हा एक-समान (वंश की) स्त्रियों में विवाह करता है वह रोता-हँसता है; वह जो एक अन्य भिन्न गोत्र व कुल की (लड़की) से सन्तान पैदा करता है, वह प्रकाशयुक्त है, सम्मान-योग्य है, वह राज़ा है, वह देवताओं की शक्ति का एक बड़ा चमत्कार है।"[1]

लड़के का रोना-हँसना अपने घर में होता है अर्थात् माता-बहिनों में, परन्तु विवाह के लिए दूसरे घर की लड़की उपयुक्त है। वैद्यक की दृष्टि से भी इसमें लाभ है; नैतिक लाभ तो है ही। इससे मनुष्य के बहिन-भाई का जीवन का वृत्त विस्तृत होता है, वह लड़कियों की बड़ी संख्या को बहिन कहना सीखता है और इस सम्बन्ध की पवित्रता उसकी दृष्टि, उसके वचन और उसकी भावनाओं में घर कर जाती है। इस अत्यन्त स्पष्ट बात पर मौलाना ने अत्यन्त भद्दा रंग चढ़ाया है, हम उसे यहाँ लिखना उचित नहीं समझते।

> "जिन इन्द्रियों से आत्मा सुरक्षित होता है, जैसे मनुष्य-भाग्य लानेवाली युवा स्त्रियों से, ओ अहिंसक मनुष्य! उनकी ओर पवित्रता से ध्यान दे, उन्हें ओषधियों (के रस) से सींचकर पवित्र कर।"[2]

इस मन्त्र का विषय भी वही है, जो ऊपर के मन्त्रों का है। वहाँ इन्द्रियों को आत्मा की बहिनें कहा गया है, यहाँ युवा भाग्यप्रद स्त्रियाँ। मौलाना ने 'कल्याणी' का अर्थ सुन्दर-मनमोहिनी स्त्रियाँ किया है और मनुष्य के साथ 'युवा' विशेषण को बढ़ा दिया है। इस काट-छाँट का कारण मौलाना जानें! भाग्य बढ़ानेवाली स्त्रियाँ तो माता, लड़कियाँ तथा बहिनें होती हैं और पत्नी भी। इस भाग्यप्रद सुख का अनुभव उन

---

१. यदन्यासु वृषभो रोरवीति सो अन्यस्मिन् यूथे नि दधाति रेतः।
स हि क्षपावान् स भगः स राजा महद्देवानामसुरत्वमेकम्॥ (ऋ० ३-५५-१७)

२. याभिः सोमो मोदते हर्षते च कल्याणीभिर्युवतिभिर्न मर्यः।
ता अध्वर्यो अपो अच्छा परेहि यदा सिञ्चा ओषधीभिः पुनीतात्॥

सब लोगों को है जो पिता, भाई तथा पति हैं। इसमें आक्षेप की कोई बात ही नहीं है।

आत्मा शरीर में इस प्रकार से रहता है जैसे गृहस्थ अपने घर में। फिर कहा है—

"शक्तिशाली (आत्मा) सैकड़ों शाखाओं से हरे-भरे चमकीले (शरीर) में इस प्रकार प्रसन्न रहता है जैसे मनुष्य युवा स्त्रियों में।"[1]

"प्रत्येक बात में आत्मा ने परमात्मा को प्रसन्न किया, बात-बात में महान् पिता को पुत्रों ने (ऐसे पुकारा) जैसे कष्ट में पड़े, समान शक्तिवाले, पुत्र, रक्षा के लिए पिता को पुकारते हैं।"[2]

"जो (चर्चाएँ) यज्ञ करनेवाले यज्ञों में करते हैं वह तथा उसके अतिरिक्त नये वर्णन सेवक ने किये। महान् प्रभु ने सारी नगरियों को सतवन्ती बना दिया जैसे एक (गृहस्थ) घर की समस्त देवियों को।"[3]

शरीर एक देश है जिसमें विभिन्न अंगों की नगरियाँ बसी हुई हैं। परमात्मा की चर्चा इन नगरियों में पवित्रता को भर देती है। ऐसा लगता है कि स्वयं ईश्वर ने इस प्रार्थना तथा भक्ति की बस्ती में डेरा लगा दिया है; उसे अपनी कृपा से आबाद कर दिया है। अब इस घर की समस्त शक्तियाँ, अविकार (अनुशासन) में रहेंगी। उनका सत्य स्थिर रहेगा, जिस प्रकार उस घर की स्त्रियों की लाज रह जाती है जिसमें कोई सद्‌गृहस्थ रहता है; अनाथ घरों की लाज व सम्मान नष्ट हो जाता है। स्वामी-रहित गृह नष्ट ही तो हो जाता है! इसी सूक्त के आरम्भ में ही कहा गया है—

"यदि आत्मा सुपुत्र नहीं, तो परमेश्वर (पिता) को प्रसन्न

---

१. प्रो अयासीदिन्दुरिन्द्रस्य निष्कृतं सखा सख्युर्न प्र मिनाति संगिरम्।
मर्य इव युवतिभिः समर्षति सोमः कलशे शतयाम्ना पथा॥ (ऋ० ९-८६-१६)

२. उक्थउक्थे सोम इन्द्रं ममाद नीथेनीथे मघवानं सुतासः।
यदीं सबाधः पितरं न पुत्राः समानदक्षा अवसे हवन्ते॥ (ऋ० ७-२६-२)

३. चकार ता कृणवन्नूनमन्या यानि ब्रुवन्ति वेधसः सुतेषु।
जनीरिव पतिरेकः समानो नि मामृजे पुर इन्द्रः सु सर्वाः॥ (ऋ० ७-२६-३)

नहीं कर सकता।"[१]

फिर कहा है—

"वह पुत्र नहीं जो (ईश्वर) चर्चा नहीं करते, परमेश्वर के होकर नहीं रहते।"[२]

ऋ० ७-३०-३ का प्रमाण जो मौलाना ने दिया है, उसमें घर की स्त्रियों के लिए जनी शब्द आया है, जिसका अर्थ है माता, पत्नी, बहू घर की सब स्त्रियाँ। स्त्रियों का सम्मान इसी में है कि उनका संरक्षक उनका पिता, पुत्र, भाई अथवा पति हो। इसी प्रकार आत्मशक्तियों की पवित्रता भी इसी में है कि उन्हें परमेश्वर का संरक्षण प्राप्त हो। ये स्त्रियों तथा पुरुषों के पवित्र सम्बन्ध हैं जिन्हें सब अमीर-ग़रीब जानते हैं। सम्भवतः यह पवित्रता का भाव धनियों की अपेक्षा निर्धनों में अधिक होता है। धनी तथा निर्धन का स्वामी परमेश्वर, दोनों के अनुभव के आधार पर सबको समान आत्म-चिन्तन का मार्ग दिखाता है। अपने घर के सामाजिक सम्मान का ध्यान रखनेवालो! देवपुरी के आत्मिक सम्मान का भी ध्यान रक्खो!

वेद में सृष्टि की प्रथम प्रातः (उषा) के सौन्दर्य को वधू के रूप में कहा है जिसका शब्दार्थ है—युवति। आर्य-साहित्य में युवति पूज्या मानी गई है। उसका अस्तित्व पवित्रतापूर्ण है। हर प्रात-उषा का प्रकाश अनादि युवति का प्रकाश है। वह एक विचित्र पवित्रतायुक्त प्रकाश है। वेद के काव्यमय शब्दों में—

"यह वह प्रात है जो आरम्भ में प्रकट हुई। इस प्रातः में तथा अन्य प्रातों के प्रकाशों में उसका प्रकाश सम्मिलित है; उसमें बड़े चमत्कार हैं। नये संसार को जन्म देनेवाली प्रातः की जय हो।"[२]

आदि प्रातः का पवित्र प्रकाश, हर प्रातः में होता है। फिर देखें—

"आप उषारूपी युवति के प्रिय हैं। संसार (की रात्रि में)

---

१. न सोम इन्द्रमसुतो ममाद नाब्रह्माणो मघवानं सुतासः।
तस्मा उक्थं जनये यज्जुजोषन्नवन्नवीयः शृणवद् यथा नः॥ (ऋ० ७-२६-१)

२. इयमेव सा या प्रथमा व्यौच्छदास्वितरासु चरति प्रविष्टा।
महान्तो अस्यां महिमानो अन्तर्वधूर्जिगाय नवगज्जनित्री॥
(अथर्व० ३-१०-४)

प्रकाशयुक्त होकर चमक रहे हैं।"[1]

इस प्रातः की युवति (उषा) के प्रिय के सम्बन्ध में लिखा है—

"देवताओं के प्रिय, दुष्टों के लिए भयंकर, आनन्द के स्रोत स्वामी, सच्चे प्रभु ने मुझे पचास (पचासों) प्रातः की उषाओं के दर्शन कराए।"[2]

प्रातःकालरूपी युवति अथवा प्रातरूपी वधू की कल्पना अत्यन्त पवित्र कल्पना है। वधू का 'मुखदर्शन' या देखना एक रस्म है, जो विवाहों पर की जाती है। दुश्चरित्रों की बात जाने दो, सज्जन लोग किसी भी युवति में नवप्रातरूपी वधू का सौन्दर्य देखते हैं। वेद के दृष्टि-कोण में बहुविवाह तो वर्जित है, परन्तु युवतियाँ संसार में हैं। सतीत्व की यह प्रतिमा ही नित्य सहस्रों की संख्या में नववधू का रूप धारण करती हैं। घर के वृद्धजनों के घरों में बहुएँ आ रही हैं और सारे घर के लिए नया सुख, नई प्रसन्नता, सद्भावनाएँ तथा पवित्रता का प्रकाश ला रही हैं। यह सब आदि-प्रातः का सौन्दर्य है। पत्नी पति का सम्मान होती है, परन्तु बहू की पवित्रता कुछ और होती है; यह पवित्र सुख कुछ ऐसा है जैसे योगी के लिए आत्मिक प्रकाश का सुख। देवताओं को यह प्रकाश क्या मिला कि हर ओर बहू-बेटियाँ दिखाई देने लगीं। वह बड़ा (पितर) हो गया! पचासों बहुओं का पितर! उसके हृदय के सुख, उसके दिल की ठण्डक, उसकी दृष्टि की सुखानुभूति की कोई उससे पूछे! उसके लिए संसार स्वर्ग है, क्योंकि स्वर्ग पवित्रता का लोक है। एक पवित्र गृहस्थाश्रम को वेद में स्वर्ग कहा है। हम इस विषय के कई मन्त्र प्रमाणरूप में दे चुके हैं। इस सूक्त का एक और मन्त्र देखें—

"सशक्त अस्थियों से युक्त, पवित्र (ब्रह्मचारी) प्राणायाम से पवित्र हुए, शुद्ध अन्तःकरणवाले, पवित्रावस्था में गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट होते हैं। उनके शिश्न को कामाग्नि नहीं जला सकती। इस

---

१. तव द्रप्सो नीलवान् वाश ऋत्विय इन्धानः सिष्णवा ददे।
त्वं महीनामुषसामसि प्रियः क्षपो वस्तुषु राजसि॥ (ऋ० ८-१९-३१)

२. अदान्मे पौरुकुत्स्यः पञ्चाशतं त्रसदस्युर्वधूनाम्।
मंहिष्ठो अर्यः सत्पतिः॥ (ऋ० ८-१९-३६)

स्वर्ग में उन्हें स्त्रियों के अधिक समीप रहना है।"[१]

गुरुकुल से गृहस्थाश्रम में विशेषता स्त्रियों का सम्पर्क ही तो है ! ब्रह्मचारी पहले इस सम्पर्क से दूर था, अब वह पढ़कर, सीखकर, योग की तपस्या करने के पश्चात् अपनी दृष्टि को पवित्र बना चुका है। हृदय में शान्ति, भावनाओं में पवित्रता लेकर वह गृहस्थों के लोक में आया है। यह लोक स्वर्ग तो है सही, परन्तु उस अवस्था में, जब मनुष्य काम-वासना का शिकार न हो; नर स्त्रियों को अपनी माता तथा बहिन समझे। अथर्ववेद में कहा है—

"जो सन्तान के विस्तार का यज्ञ करता है, तपस्या उसके पौरुष को समाप्त नहीं होने देती।"[२]

इस मन्त्र की व्याख्या हम इससे पूर्व कर चुके हैं, परन्तु मौलाना बारम्बार इन मन्त्रों को दोहराये जाते हैं। उनके मन में एक विचार घर कर गया है (कि) बात-बात में उनपर वही मस्ती छा जाती है। कहीं 'रम' धातु को लेते हैं, कहीं 'मुद' को, तो कहीं 'प्रमुद' को। फ़रमाते हैं—"शब्द मुद, मुदः तथा प्रमुदः यद्यपि सब-के-सब स्त्री-पुरुष के विशेष सुख का भाव अपने भीतर रखते हैं, परन्तु प्रमुदः तो विशेष रूप से वेद में इन अर्थों में प्रयुक्त हुआ है।" (पृष्ठ ११८)

मज़े की बात यह है कि मोद, मुद तथा प्रमुद, इन तीनों शब्दों के अर्थ मौलाना स्वयं अपनी पुस्तक पृष्ठ ५६ में मुद—लज्ज़त, मुद—सरूर (प्रसन्नता), प्रमुदः—सर्वोच्च सुख, यह लिख चुके हैं। योगी का वर्णन हो तो उसका आनन्द आध्यात्मिक होगा, विलासी का वर्णन हो तो उसका सुख वासनामय होगा। एक पवित्र सुख अपने पुत्र-पुत्रियों के सामीप्य से भी मनुष्य को प्राप्त हो सकता है, और यदि मन में पवित्रता हो तो पराई स्त्री भी माता अथवा बहिन लगती है। मौलाना ने जहाँ सुख तथा सर्वोच्च सुख की बात कही है, वहाँ तो वर्णन ही मोक्ष का है। परन्तु पुस्तक समाप्त करते-करते मौलाना पर न जाने क्या धुन सवार

---

१. अनस्थाः पूताः पवनेन शुद्धाः शुचयः शुचिमपि यन्ति लोकम्।
नैषां शिश्नं प्र दहति जातवेदाः स्वर्गे लोके बहु स्त्रैणमेषाम्॥
(अथर्व० ४-३४-२)

२. विष्टारिणमोदनं ये पचन्ति नैनान् यमः परि मुष्णाति रेतः।
रथी ह भूत्वा रथयान ईयते पक्षी ह भूत्वाति दिवः समेति॥ (अथर्व० ३४-४)

हुई कि लिखते हैं—"वहाँ तीन प्रकार की स्त्रियाँ हैं, तथा तीन प्रकार का ही सुख···ऋग्वेद ने इन तीन प्रकार के सुख का नाम मोद, मुद तथा प्रमुद रक्खा है।" (पृष्ठ १२७)

ज़रा विचार करें, वहाँ स्त्रियों का वर्णन कहीं है भी ? अपने ही किये अर्थों को भुलाकर नये-नये कल्पना के महल बनाना, नित्य नई बातें घड़ना और वह भी अश्लील, मौलाना के पवित्र जीवन—तपस्वी जीवन का द्योतक तो कदापि नहीं।

यह तीन प्रकार की स्त्रियों का विचार आपने कहाँ से लिया ? मौलाना का उत्तर है—उपनिषदों से। जिन उपनिषदों के अध्ययन से हर मत के मनुष्य को आत्मिक शान्ति प्राप्त हुई है, मौलाना को उन पुस्तकों से यह महान् उपलब्धि हुई है.!

छान्दोग्य उपनिषद् ८-१२-३ में आत्मा को अशरीर, अर्थात् शरीर-रहित लिखकर कहा है—"इस प्रकार शरीर त्यागकर (मुक्त होकर), परमेश्वर की कृपा से प्रकाश को प्राप्त करके अपने स्वरूप को जानता है और उत्तम पुरुष इस अवस्था में भ्रमण करता है। स्त्रियों, सवारियों तथा सम्बन्धियों के साथ हँसता-खेलता, आनन्दित होता हुआ अपने भाई-बन्धुओं को स्मरण नहीं करता, जैसे इस शरीर को प्रयोग करता हुआ किसी कार्य में व्यस्त हो जाता है (और शेष को भुला देता है)।"[1]

यहाँ मौलाना को हँसना, खेलना तथा आनन्दित होना, ये तीन शब्द मिले हैं। ये तीन कर्म तो सवारियों, सम्बन्धियों के साथ वैसे ही जुड़े हुए हैं। क्या इनके भी तीन प्रकार होते हैं ? स्त्रियों से अभिप्राय बहू-बेटियों से है, उनके साथ हँसने-बोलने में एक पवित्र सुख की अनुभूति होती है, जो आत्मिक आनन्द को देती है। फिर यहाँ तो आत्मा है ही शरीर-रहित। वह वासनाओं को पहले ही त्याग चुका है। यहाँ उसका सुख आत्मिक सुख के अतिरिक्त हो ही नहीं सकता। आगे चलकर और स्पष्ट किया है—"मन—कल्पना उसके दैवी नेत्र हैं। इस दैवी चक्षु से, अर्थात् मानसिक कल्पना से उन सब कामनाओं को प्राप्त होकर प्रसन्न

---

१. स्वमेवैष संप्रसादोऽस्माच्छरीरात् समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते। स उत्तमः पुरुषः। स तत्र पर्येति जक्षन् क्रीडन् रममाणः स्त्रीभिर्वा यानैर्वा ज्ञातिभिर्वा नोपजनँ स्मरन्निदँ शरीरम्। स यथा प्रयोग्य आचरणे युक्त एवमेवायमस्मिञ्छरीरे प्राणो युक्तः ॥ (छान्दोग्य ८-१२-३)

होता है।"[१]

मौलाना ने 'रमते' शब्द पढ़ा तो पता नहीं क्या समझ बैठे ? यह तो 'रमते रामों' की बातें हैं। 'रमते राम' साधु को कहते हैं, जिसका सर्वस्व आत्मिक आनन्द है। बृहदारण्यक उपनिषद् में भी ये तीनों शब्द इन अर्थों में प्रयुक्त हुए हैं।

कठोपनिषद् में यम तथा नचिकेता का संवाद है। नचिकेता ने आत्मा का स्वरूप जानने की इच्छा की है। यम उसे सांसारिक सुखों का प्रलोभन देता है। नचिकेता फुसलाया नहीं जा सकता। यम कहता है—"जो-जो इच्छाएँ इस नश्वर जगत् में कठिनाई से पूरी होती हैं, वे सब मनोवांछित कामनाएँ तू माँग ले; सुन्दर स्त्रियाँ—रथों, बाजों-सहित ऐसी स्त्रियाँ मनुष्यों को प्राप्त नहीं होतीं।"[२]

यहाँ तो यम का अभिप्राय नचिकेता को फुसलाना ही है। हम नहीं समझे कि इस मन्त्र में स्त्रियाँ भी तीन प्रकार की कैसे हो गईं ? स्त्रियाँ रथों तथा बाजों के साथ हैं। मौलाना का कहना है—"एक रामा कि जिनके साथ विलास का सुख होगा, दूसरी रथोंवाली और तीसरी बाजों, गानोंवाली कि जिनके साथ हँसी, खेल-कूद होगी।" (पृष्ठ १२८)

मौलाना को इन नवीन कल्पनाओं के लिए बधाई देनी चाहिए—गानेवाली और, तथा रथोंवाली और, एवं रामाः और ! क्या रथ तथा बाजे इकट्ठे नहीं हो सकते ? अथवा यह सुख की सामग्री नहीं ? उपनिषद् में तो रथोंवाली, बाजोंवाली 'रामाः' शब्द का विशेषण ही हैं। इन तीन प्रकार की स्त्रियों का वर्णन मौलाना ने वेद के शब्दों—मुदः, प्रमुदः तथा मोद में पाया है; परन्तु वहाँ तो आनन्द भी है, इससे चौथी प्रकार की कल्पना कीजिये। सचमुच सूझ का भी कमाल है ! यह जुदा बात है कि इस सूझ का आधार न वेद है, न उपनिषद् और न स्वयं मौलाना का किया आरम्भिक अनुवाद। मौलाना लिखते हैं—"उपनिषद् में संक्षेप से लिखा है कि मनुष्य इस संसार में उन स्त्रियों को प्राप्त नहीं कर सकता, अर्थात् ऐसी सुन्दर, मनमोहक कि कोई मनुष्य

१. मनोऽस्य दैवं चक्षुः। स वा एष एतेन दैवेन चक्षुषा मनसैतान् कामान् पश्यन् रमते ॥ (छान्दोग्य ८-१२-५)

२. य ये कामा दुर्लभा मर्त्यलोके सर्वान् कामान् छन्दतः प्रार्थयस्व।
इमा रामाः सरथाः सतूर्या न हीदृशो लम्भनीया मनुष्यैः ॥ (कठ० १-२५)

उनके असीम सौन्दर्य का अनुमान भी नहीं कर सकता।" (पृष्ठ १२६)

कठोपनिषद् के शब्दों का अनुवाद स्वयं मौलाना ने इस प्रकार किया है—"जो कामुक वासनाएँ इस संसार में पूरी होनी दुर्लभ हैं, ऐसी स्त्रियों को मनुष्य नहीं पा सकते।" अभिप्राय स्पष्ट है कि कठिनाई से मिलती हैं। उपनिषद् में शब्द है 'दुर्लभ' अर्थात् कठिनाई से मिलने-वाली। इसे अलभ्य कह दें तो भी अर्थ एक ही है।

उपनिषद् के इन शब्दों में स्वयं का वर्णन ही कहा है। परन्तु मौलाना अपनी धुन के धनी हैं। उन्होंने पुस्तक लिखी—**वेदों का बहिश्त** और उनके मस्तिष्क में बहिश्त का एक चित्र है। वे उसे स्थान-स्थान पर देखते हैं—वेद में, उपनिषद् में; इसका आधार हो या न हो, परन्तु मौलाना को वह चित्र अवश्य दिखाई देता है।

मौलाना गृहस्थ हैं, और वैदिक स्वर्ग का एक रूप गृहस्थाश्रम में है। इसमें बहू-बेटियों का सतीत्व, सतवन्ती देवियों का सत्य विद्यमान है और ब्रह्मचारियों की दृष्टि में यह सारा विश्व, एक महान् विशाल माता का स्वरूप है—

"उनके लिए आत्मिक माता मीठा दूध बहा रही हैं, जिन्हें प्रकृति पर्वतों पर हरयावल बिछाकर अमृत-पान का निमन्त्रण दे रही है, जिसका बल ईश्वर-भजन है, जो संसार के लिए दया से भरे मेघ हैं, जिनके मतवाले नेत्रों में आत्मिक स्वप्नों का संसार बस रहा है, ऐसे बाल-ब्रह्मचारी के आनन्द से (ऐ मनुष्य) तू आनन्दित हो।"[1]

यह स्वर्ग ऋषि दयानन्द की पतित-पावनी आँखों में था। वेद का सन्देश ऋषि के इन पवित्र नेत्रों के द्वारा जगत् के लोगों को वेदों के स्वर्ग का दीवाना बना रहा है। परमेश्वर हमें शक्ति दें कि हम ऋषि के नेत्रों की मस्ती से मस्ती प्राप्त कर सकें। यही स्वर्ग वैदिक स्वर्ग है। यह धर्म का उद्यान है, सतीत्व की ज्योति है। यह स्वर्ग शारीरिक भी है और आत्मिक भी है। एक मुक्तातमा अपनी आत्मिक पवित्रता से संसार को धरती का स्वर्ग बना गई। सांसारिक लोगों के लिए स्वर्ग ऋषि के अनुकरण में है।

*

१. येभ्यो माता मधुमत्पिन्वते पयः पीयूषं द्यौरदितिरद्रिबर्हाः। उक्थशुष्मान् वृषभरान्त्स्वप्नसस्ताँ आदित्याँ अनु मदा स्वस्तये॥ (ऋ० १०-६३-३)

कुरआन के बहिश्त-सम्बन्धी
अहमदिया (लाहौरी) व्याख्या

अपनी पुस्तक के आरम्भ में ही मौलाना ने इस्लामी बहिश्त पर ऋषि दयानन्द के आक्षेपों का संक्षिप्त विवरण देकर नीचे एक नोट लिखा है—"इन आक्षेपों के उत्तर आपको **'तसदीक़े बुराहीने अहमदिया'** (ले० नूरुलदीन), **चश्माए मआरफ़त** तथा अधिक विस्तार के साथ **बयानुल्क़ुर्आन** में मिलेंगे।" (पृष्ठ ४) यदि उन उत्तरों का संक्षेप मौलाना की अपनी पुस्तक में आ जाता तो पाठक के लिए, जो सचमुच इस्लामे-पाक पर आर्यसमाज के सबसे बड़े आक्षेप का उत्तर जानना चाहता हो, सन्तोष का कारण हो जाता। ऊपर के वाक्य इस तथ्य की स्वीकृति हैं कि मौलाना की अपनी पुस्तक में आक्षेपों का उत्तर नहीं है, अपितु उत्तर कहीं दूसरी पुस्तक में दिया गया है। मौलाना ने जिन पुस्तकों की ओर संकेत किया है उनमें सबसे अन्तिम **बयानुल्क़ुर्आन** ही छपी है। मौलाना का भी कहना है कि इसमें अधिक विस्तार से काम लिया गया है। हम इस अध्याय में इस्लामी बहिश्त के उस स्वरूप पर विचार करेंगे, जो मौलाना मुहम्मदअली ने इस नवीन प्रकाशन में उपस्थित किया है। **'बयानुल्क़ुर्आन'** से पूर्व मौलाना (मुहम्मद अली) ने आंग्ल भाषा में क़ुर्आन का अनुवाद तथा व्याख्या प्रकाशित कराई थी। उर्दू की व्याख्या उस आंग्ल भाषा का अनुवाद तो नहीं, उस विषय को अधिक विस्तार से उर्दू में प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। फिर भी दोनों पुस्तकों को एक-साथ पढ़ने से पाठक के मन पर यह प्रभाव स्पष्ट पड़ता है कि मौलाना अपनी आंग्ल भाषा की व्याख्या से सन्तुष्ट नहीं हैं, और उसके पश्चात् उर्दू में और व्याख्या करने के इच्छुक हैं; भौतिक जगत् से बहिश्त को और दूर ले जाना चाहते हैं। देखना यह है कि क्या मौलाना अपने इस प्रयास में सफल हुए हैं? हम यहाँ क़ुर्आन की कुछ आयतें उपस्थित करेंगे और उनपर मौलाना द्वारा किये अर्थ, नोट लिखकर उनकी सत्यता की शोध, इस्लाम के विद्वानों पर छोड़ेंगे।

पहली आयत—**व बशिशरिल्लज़ीन आमनू व अमिलुस् सालिहाति अन्न लहुम् जन्नातिन् तज्री मिन् तह्तिहल् अन् हारु कुल्लमा रज़िक़ू मिन्हा मिन् समरतिर् रिज़्क़न् कालू हाजल्लज़ी रुज़िक्नामिन क़ब्लु व अतू बिह मुतशाबिहन् व लहुम् फ़ीहा अज़्वाजुम् मुतह्हरतुन् व'वहुम् फ़ीहा खालिदून । सूरतुल् बक़र आयत २५ ।**

प्रचलित अनुवाद

शुभ सूचना दो उनको जो ईमान लाए और जिन्होंने कर्म किये अच्छे। कि उनके लिए बाग़ हैं जिनके नीचे नहरें बहती हैं··· और उन्हें मिलती-जुलती (यहाँ से) भोग्य सामग्री (रिज़्क) दी जावेगी और उनके लिए पवित्र पत्नियाँ होंगी, और वह उनमें हमेशा रहेंगे।

मौलाना द्वारा किया अनुवाद

उन लोगों को शुभ सूचना दे दो जो ईमान लाते और अच्छे काम करते हैं। उनके लिए बाग़ हैं जिनके नीचे नहरें बहती हैं···और उन्हें मिलता-जुलता (रिज़्क — भोग्य पदार्थ) दिया जावेगा और उनके लिए उनमें पवित्र साथी होंगे, और उन्हीं में रहेंगे।

मौलाना ने इस आयत में शब्द **अज़वाज** का अर्थ साथी किया है, आंग्ल व्याख्या में MATES लिखा है और उसकी व्याख्या इस प्रकार की है—**"अज़्वाज मुतहरा"** मोमिनों की मोमिना बीवियाँ हो सकती हैं। सम्भवत: वे बहिश्त के जीवन के उन सुखों में से हैं, जिनपर पुरुषों तथा स्त्रियों का समान अधिकार है।

दूसरी आयत—**अुलाइक लहुम् जन्नातु अदनिन् तज्री मिन् तह्तिहि मुल् अन्हारु युहल्लौन फ़ीहा मिन् असाविर मिन् जहविव्व यल्बसून सियाबन् खुज़्रम्-मिन् सुन्दुसिव्व अिस्तब् रक़िम्-मुत्तकिओन फ़ीहा अलल् अराअिकि निऽमस्सवाबु व ह्सुनत् मुर्तफ़कन् (३१) सूरतुल् कहफ़ि (१८)।**

अर्थ—"उनके लिए सदा के लिए बाग़ है, जिनके नीचे नहरें बहती होंगी। उनमें उन्हें सोने के कड़े पहनाए जाएँगे और वे महीन तथा मोटे रेशम के हरे वस्त्र पहनेंगे और उनके अन्दर तख्तों पर तकिये लगे हुए होंगे।"

नीचे नोट दिया है—"सोने के कड़े, तख्तों पर बैठना, भव्य वस्त्र, ये

सब शोभा की वस्तुएँ तथा प्रभुता के चिह्न हैं, और क्योंकि यहाँ ईसाई जाति के मुक़ाबिले में मोमिनों के लिए अलभ्य (अमूल्य) पदार्थों का वर्णन था, अतः विशेष रूप से उन पदार्थों का नाम लिया गया जिसकी स्वामिनी ये जातियाँ स्वयं को समझती हैं। अभिप्राय यह है कि वास्तविक प्रभुता उन्हें प्राप्त होगी, जो ईश्वरेच्छा (की स्वीकृति) के इच्छुक हैं। और उनके वस्त्र सब्ज़ (हरे) कहे हैं, इसलिए कि सब्ज रंग नेत्रों को आनन्द देता है—"हाँ, यह भी सत्य है कि जन्नत के इन अमूल्य पदार्थों में सांसारिक विषय की ओर भी सूक्ष्म संकेत है। और इसका ज्ञान हमें स्वयं नवी करीम सलअम की वाणी से लगता है··· नबी करीम ने फ़रमाया कि ऐ सराक़ा! मैं तेरे हाथों में कसरा के स्वर्ण के कंगन देखता हूँ। अतः यह सूचना जो इस दरिद्रावस्था में दी गई थी कि ईरान-इराक के ख़ज़ाने मुसलमानों के हाथ आएँगे, जब उनका जीवन भी संकट में था। यह बात चौबीस वर्ष पश्चात् पूरी हुई।

तीसरी आयत—**युताफ़ु अलैहिम् बिक अ् सिम्-मिम्म ओनिन् (४५) म' बैज़ा अ लज़्ज़तिल-लिशशारबीन (४६) ला फ़ीह ग़ौ लुंब्ब ला हुम् अन् हा युन्ज़फ़ून् (४७) व अिन्दहुम् क़ासिरातुत्तर्फ़ि ओनून् (४८) कअन्नहुन्न बैज़ुम्-मक़नूनुन् (४९) सूरतुस्साफ़फ़ाति (३७)।**

अर्थ—"इनमें एक प्याला फ़िराया जावेगा, जो बहते पानी से (युक्त) होगा पीनेवाले के लिए स्वादिष्ट; न तो उसमें मृत्यु होगी, न उससे पीनेवाले मतवाले होंगे, और उनके पास नीची निगाहों (नेगों) वाली, नीची दृष्टिवाली तथा बड़े नेत्रोंवाली होंगी जैसे वे सुरक्षित किये अण्डे हैं।"

नारे (नोट) में लिखा है—"बहिश्त में स्त्रियाँ भी होंगी। यह तो स्पष्ट है क्योंकि जो पुरस्कार मोमिन पुरुषों के लिए ईमान तथा शुभ कर्मों का मिलेगा, वही पुरस्कार मोमिन स्त्रियों के लिए है। और मोमिन स्त्रियाँ बहिश्त में इस प्रकार जाएँगी, जैसे मोमिन पुरुष। इसलिए 'इन्दहुम क़ासिरातुलतरफ़' में पवित्र बीवियों का वर्णन भी हो सकता है, जिन्होंने अपनी दृष्टि को किसी अनुचित अवसर पर नहीं उठाया···बहिश्त की 'क़ासिरातुलतरफ़' को भी इस संसार की स्त्रियों से अनुमान में नहीं लाया जा सकता।···बहिश्त की **क़ासिरातुलतरफ़** भी पुरुषों तथा स्त्रियों के लिए समान है। इस नोट में **क़ासिरातुलतरफ़**

का अर्थ प्रथम तो 'मोमिनों की लज्जाशील स्त्रियाँ' किया, फिर कहा कि वे संसार की स्त्रियाँ नहीं; और फिर फ़रमाया कि यह अमूल्य पदार्थ पुरुषों तथा स्त्रियों दोनों के लिए समान है। इन अर्थों का आपस में समन्वय कैसे हो ? मौलाना व्याख्याओं की दलदल में फंस गये हैं।

चौथी आयत—**अिन्नल्मुत्तक़ीन फ़ी मक़ामिन् अमीनिन्। फ़ी जनातिव्व अयूनिन् ए'यल्बसून मिन् सुन्दुसिव्व अिस्तब्रक़िम्-मुतकाबिलीन। कजालिके व ज़व्वज्नाहुम् बिहूरिन् ओनिन्। सूरतुद्दुखानि (४४) ५१-५४।**

अर्थ—"परहेज़गार (पवित्र कर्मवाले) शान्त स्थान पर होंगे, अर्थात् बाग़ों में तथा चश्मों में; महीन तथा मोटे रेशम के वस्त्र पहनेंगे। एक-दूसरे के सन्मुख (बैठेंगे), ऐसा ही होगा और हम उन्हें सुन्दर स्त्रियों (हूरों) के साथी बना देंगे।"

'ज़व्वज्नाहुम्' का अर्थ अन्य अनुवादकों ने "विबाह कर देंगे" किया है। मौलाना ने 'साथी बना देंगे' किया है। ऊपर दिये गये नोट की ओर संकेत करके कहा है—"यद्यपि यह शब्द (हूर तथा ऐन) ऐसे हैं जो स्त्रियों के लिए विशेष रूप से प्रयुक्त होते हैं, परन्तु इसका अभिप्राय सचमुच स्त्रियाँ नहीं होता। क्योंकि बहिश्त के अमूल्य पदार्थों में नाम तो निस्सन्देह इस संसार के पदार्थों के हैं, परन्तु इन वस्तुओं की वास्तविकता वह नहीं। वास्तविक अभिप्राय यहाँ सौन्दर्य की पराकाष्ठा से है, जो मनुष्य के सुन्दर कर्मों का परिणाम है।

पाँचवीं आयत—**यतूफ़ु अलैहिम् विल्दानुम्—मुख़ल्लदून। वि अक़्वाबिव्व अवारीक़व क अ्सिम्-मिम्-मओनीन्। ल' ला युसद् दअून अन् हा व ला युन् जिफ़ून। व फ़ाकिहतिम्-मिम्मा यतखय्यरून। व लहमि तैरिम् मिम्मा यश्तहून्। व हूरुन् ओनुन्। क अम्सालिल्-लुअ्लुअिल् मक्नूनि। जजा अम्-बिमा कानू यऽ्मलून (५६) सूरतुल् वाक़ि अति=आ० १७-२३।**

अर्थ—उनमें सदा एक अवस्था (आयु) में रहनेवाले लड़के फिर रहे होंगे। आबखोरे और लोटे जारी पानी का प्याला लिये हुए। इससे उन्हें शिर की पीड़ा न होगी और न वे मतवाले (मदमत्त) होंगे। और मेवा (फल) जैसा वे चाहें, पक्षी का मांस जिसकी वे इच्छा करें, और सुन्दर हूरें (स्त्रियाँ) सुरक्षित रखें मोतियों के समान !

छठी आयत—**म'मुत्तकिओन फ़ीहा अलल् अराअिकि ला यरौन फ़ीहा शम्संव्व ला ज़म् म्हरीरन्। व दानियतन् अलैहिम् जिलालुहा व जुल्लिलत् क़ुतूफ़ुहा तज़लीलन्। व युताफ़ु अलैहिम् बिआनिय तिम्-मिन् फ़िज़्ज़तिव्व अक़्वा बिन कानत् क़वारीर। कवारीर-मिन् फ़िज़्ज़तिन् क़द्दरूहा तक़दीरन्। व युस्क़ीन फ़ीहा क अ्सन् कान मिज़ाजुहा ज़न्ज-बीलन्। अैनन फ़ीहा तुसम्मा सल्सबी लन् व युतूफ़ु अलैहिम् विल्दानुम् मुखल्लदून अिज़ा रअैतहुम् ह्सिब्तहुम् लुअ्लुअम् मन्सूरन् व अिज़ा रअैत सम्म रअैत न ओमव्व मुल्कन् कबीरन्। आलियहुम् सियाबु सुन्दुसिन् खुज़रुव्व अिस्तब्रकून् व्'व हुल्लु असाबिर मिन् फ़िज़्ज़तिन् व सक़ाहुम रब्बुहुम् शराबन् तहूरन्। अिन्न हाजा कान लकुम् जज़ा अव्व कान सऽयुकुएमश्करून्। सूरतुद्-दहरि-आयत १३ से २३।**

अर्थ—न उसमें धूप की उष्णता देखेंगे, न कठोर शीत।...और उन पर चाँदी के बर्तन फिराये जाएँगे, जाते होंगे, और आबखोरे जो शीशे के हैं, शीशे के, चाँदी के, उन्होंने इसे अनुमान से बनाया है और उसमें उन्हें एक प्याला पिलाया जावेगा जिसकी मलोनी सौंठ की होगी। उसके एक चश्मे (झरने) जिसका नाम **'सलसबील'** है और उसपर सदा एक अवस्था (आयु) में रहनेवाले लड़के मिलेंगे; जब तू उन्हें देखेगा, तो उन्हें बिखरे हुए मोती समझेगा।"

टिप्पणी (नोट) में लिखा है—प्रथम एक **कास** का वर्णन किया था जिसकी मलोनी काफ़ूर की है; यहाँ एक **कास** का वर्णन आया है (कास =प्याला) जिसकी मलोनी सौंठ की है। वहाँ उस शक्ति की ओर संकेत था जो पापों को दबाती है; यहाँ उस शक्ति का संकेत है जो कर्म करने की शक्ति उत्पन्न करती है। क्योंकि 'जंजबील' (सौंठ) की विशेषता यही है कि वह शक्तिप्रद है।

कई स्थानों पर एक स्वर्ग के स्थान पर दो स्वर्गों का वर्णन है। सूरत रहमान आयत ४६[1] में **जन्नतन** शब्द पर मौलाना लिखते हैं—"मेरे विचार में दो जन्नतों (स्वर्गों) से अभिप्राय, एक इस संसार का स्वर्ग है और दूसरा मृत्यु के पश्चात् मिलनेवाला। सांसारिक स्वर्ग से अभिप्राय 'सांसारिक विजय' भी हो सकती है जो सहाबा (इस्लामी पैग़म्बरों) को

---

१. व लिमन् ख़ाफ़ मक़ाम रब्बिह **जन्नतानि**। (५५ सूरतुर्रहमानि) आयत ४६

ईश्वर ने दी। हदीस (इस्लामी ग्रन्थ) में जो दजला तथा फ़रात (दो नदियाँ) को स्वर्ग की नहरें माना गया है, तो वह भी शायद इसी ओर संकेत हो।"

जन्नत (स्वर्ग) के इस अन्तिम अर्थ की ओर संकेत तो ऊपर की एक टिप्पणी में मौलाना दे चुके हैं। आंग्ल व्याख्या में इस अर्थ पर बल दिया गया है। उर्दू में केवल संकेतों से काम लिया है। जैसे सूरत रहमान की आयत ५८ में जहाँ हूरों (सुन्दर स्त्रियों) का वर्णन है, मौलाना ने अपनी आंग्ल भाषा की व्याख्या में यह टिप्पणी दी है—

"यहाँ उन कुलीन तथा पवित्र देवियों का वर्णन है, जो सीरिया (देश) की विजय के पश्चात् विजयी मुसलमानों से विवाह कर पाईं, (जहाँ तक इस प्रतिज्ञा का इस संसार से सम्बन्ध है)।"

ये कुछ उदाहरण इस व्याख्या के हैं जो अहमदिया जमात के अमीर मौ० मुहम्मद अली ने क़ुर्आन की कुछ आयतों की की है। उनकी दृष्टि में जन्नत दो प्रकार की है—एक सांसारिक जिससे अभिप्राय दजला तथा फ़रात के मध्य का अथवा समीप का बाग़ है, जहाँ उस बाग़ की व्याख्या में (विशेषताओं में) सोने के कंगन की बात आई है, मौलाना के विचार में वह कसरा का कंगन है जो फ़ारिस के राज्य के ख़जाने का प्रतिनिधि है। इसी सम्बन्ध में पवित्र स्त्रियों अथवा हूरों का वर्णन आया है। इससे अभिप्राय वे कुलीन स्त्रियाँ हैं, जो विजेता मुसलमानों की स्त्रियाँ बनीं। एक दूसरा स्वर्ग परलोक से सम्बन्धित है। उसमें भी बाग़ों, नहरों, शराब, दूध, कंगन; रेशम के वस्त्र, पक्षियों का मांस, हूर, ग़िलमान (सुन्दर लड़के) का वर्णन है, परन्तु मौलाना का विचार है कि वह पदार्थ सांसारिक पदार्थ नहीं। स्पष्ट लिखा है कि यहाँ के अमूल्य पदार्थों से मिलता-जुलता रिज़क (भोग्य पदार्थ) तुम्हें वहाँ मिलेंगे। परन्तु मौलाना यहाँ आत्मिक आनन्द का भाव मानते हैं और वहाँ सौंठ का जो वर्णन आया है, तो इसकी विशेषता है कि वह शक्तिवर्धक है। इस आधार पर मौलाना की व्याख्या में कर्म-शक्ति के मिलने का अर्थ मिलता है। हूर के शब्दार्थ हैं पवित्र। मौलाना का विचार है कि यह कोई पवित्र बरकत है, जो स्त्री-पुरुष दोनों को समान रूप से प्राप्त होगी। यद्यपि मौलाना यह स्वीकार करते हैं कि **कासिरातुलतरफ़** तथा **हूरेऐन** शब्दों का प्रयोग स्त्रियों के लिए होता है, तो क्या मोमिन स्त्रियों

को भी स्वर्ग में हूरें (स्त्रियाँ) मिलेंगी ? स्त्रियों का साथी स्त्रियों को बनाने में कोई आक्षेप की बात नहीं, परन्तु यदि मोमिन पुरुषों के साथी भी पुरुष ही बनाये जाते तो क्या कमी आ जाती ? मौलाना ने यह भी लिखा है कि स्त्रियों का सम्बन्ध स्वर्ग में वह न होगा जो इस संसार में है। फिर यहाँ एक ही अवस्था (आयु) में रहनेवाले ग़िलमान (सुन्दर लड़के) क्या हैं ? मौ० सनाउल्लाह तो उन्हें बहिश्ती पुरुषों की सन्तान मानते हैं। वस्तुतः बात यह है कि जहाँ तक क़ुर्आन के शब्दों का सम्बन्ध है, मौलाना क़ुर्आन की जन्नत को शारीरिक सम्बन्धों से जुदा कर ही नहीं सकते। और यदि बहिश्त शरीरयुक्त है, तो इस लोक से परलोक में अन्तर ही क्या है ? यही न कि वहाँ की शराब में कटुता न होगी। उससे मस्तिष्क में विकार न आयेगा। तो क्या ऐसी शराब इस संसार में नहीं है जो मस्ती तो दे, पर हानि न पहुँचाए ? क़ुर्आन के जन्नत की कोई पवित्र कल्पना हो सकती है तो हमारे विचार में वह पविश्र गृहस्थ की कल्पना है। एक संयमी गृहस्थ की पत्नी, बहिनें, लड़कियाँ, लड़के और उनके साथ पवित्र सुखद पदार्थ, इन सबका होना स्वर्ग नहीं तो क्या है ? मोती-से लड़के और डिबिया में रखे हीरों के समान स्त्रियाँ, यह सब आख़िर त्याज्य तो नहीं ? हाँ, परलोक में इनकी प्राप्ति के मानने के लिए पुनर्जन्म के सिद्धान्त को स्वीकार करने की आवश्यकता है। और हमारा यह विचार है कि यह सिद्धान्त क़ुर्आन के मुख्य मन्तव्यों में से है। पुनर्जन्म का खण्डन क़ुर्आन में कहीं नहीं, इसके विपरीत कई आयतें ऐसी हैं जिनकी व्याख्या में दूर की कौड़ी लाने का प्रयास न किया जावे, तो स्पष्ट अर्थ पुनर्जन्म का ही होता है। तद्यथा—

१—कैफ़ तक्फ़ुरून बिल्लाहि वकुन्तुम् अम्वातन् फ़ अह्याकुम् सुम्म युमीतुकुम् सुम्म युह्यीकुम् सुम्म अलैहि तुर्जऊन ॥

(२ सूरतुल बक़रति, आयत २८)

अर्थ—(लोगो !) क्योंकर तुम अल्लाह का इन्कार करते हो ? (देखो !) जबकि तुम बेजान थे, तो उसने तुममें जान डाली; फिर वह तुमको मौत देगा, (वही) तुमको फिर जिलाएगा, फिर उसी की तरफ़ लौटाए जाओगे।

२—सुम्म ब अस्नाक़ुम मिम्बऽदि मौतिकुम् ल अल्लकुम् तश्करून ॥

(२ सूरतुल बक़रति, आयत ५६)

अर्थ—फिर तुम्हारे मरने के बाद हमने तुमको जिला दिया कि शायद तुम शुक्र अदा करो।

३—व अक्सम् बिल्लाहि जह्द अैमानिहिम् ला यब् असुल्लाहु मंय्य-भूतु वला वऽदन् अलैहि हक़्क़ंव्व लाकिन्न अक्सरन्नासि ला यऽलमून् ॥

(सूरतुन्नहलि, आयत ३८)

अर्थ—और वह अल्लाह की बड़ी सख़्त कसमें खाते हैं कि जो मर जाता है उसको अल्लाह क़यामत के दिन कब्र से दोबारा नहीं उठाएगा। ऐ पैग़म्बर ! उनसे कह दो कि ज़रूर उठा खड़ा करेगा, वादा हो चुका है और इस वादे का पूरा होना उसके लिए ज़रूरी है।

४—क़ालू अ अिज़ा मित्ना व कुन्ना तुराबंव्व जिआमन् अ अिन्ना लमब् अूसून ॥ सूरतुल् मुअ्मिनून (२३) आयत ८२

अर्थ—कहते हैं कि क्या जब हम मर जावेंगे और मिट्टी हो जाएँगे और सिर्फ़ हड्डियाँ बाक़ी रह जाएँगी तब क्या हम (दोबारा ज़िन्दः करके) उठा खड़े किये जाएँगे ?

५—मय्यितिन् फ़ अह्यैना बिहिल् अर्ज़ वऽद मौतिहाकज़ालिकन् नुशूरु ॥ (सूर: फातिरिन (३५), आयत ६)

अर्थ—फिर हम मेंह के ज़रिये ज़मीन को उसके मुर्दा होने के बाद ज़िन्दा कर देते हैं। इसी तरह मुर्दों का भी जी उठना है।

६—युख्रिजुल-हय्य मिनल्-मय्यिति व युख्रिजुल्-मय्यित मिनल्-हय्यि व युह्यिल्-अर्ज़ वऽद मौतिहा व कज़ालिक तुख़रजून ॥

(सूरतुर् रूमि, आयत १९)

अर्थ—वह अल्लाह ही समर्थ है जो ज़िन्दा को मुर्दे से निकालता है और मुर्दा को ज़िन्दा से निकालता है।

७--अल्लाहु यब्द उल्ख़ल्क़ सुम्म युई दुहू सुम्म इलैहि तुर्जऊन ॥

(सूरतुर् रूमि, आयत ११)

अर्थ—अल्लाह पहली दफ़ा (ख़िलक़त) को पैदा करता है, फिर उसको दुहरावेगा, फिर उसी की तरफ़ लौटकर जाओगे।

८—व क़ालू अअिज़ा ज़लल्ना फिल अर्ज़ि अ अिन्नालफ़ी ख़ल्क़िन् जदीदिन् बल हुम् बिलिक़ा अि रब्बिहिम् काफिरून ॥

(सूरतुस्-सज्दति ३२)

अर्थ—और कहते हैं कि जब हम मिट्टी में मिल जाएँगे तो क्या फिर

हम नये सिरे से पैदा होंगे ?

६—अनानफ़ी······**काफ़रान** ।। ७५ (सिजदा-१), पृ० ६८८

अर्थ--क्या हम नवोत्पत्ति में जाएँगे ? हाँ, ऐसे (सन्देहवाद) अपने प्रभु की मुलाक़ात से इन्कार करते हैं।

१०—अज़ाकना·········**ज़ून** ।। २७ (अतनमल-६)

जब मिट्टी हो जाएँगे हम, और पिता हमारे, क्या हम निकाले जायेंगे ? ऊपर की आयतों में इस जीवन के पश्चात् दूसरे जीवन का स्पष्ट वर्णन है, इतना ही नहीं, इससे पहले मरने का भी वर्णन है; कहा है कि जीवित को मरे से निकालता है और मरे को जीवित से, स्पष्ट है कि जीवन-मरण का क्रम शाश्वत है। यदि जीवन से पूर्व की अवस्था को अभाव ही मानें, तो उसके पश्चात् हुई मृत्यु को भी अभाव मानना पड़ेगा परन्तु, यह इस्लाम का सिद्धान्त नहीं। जब जीवन से पूर्व की तथा पश्चात् की दोनों अवस्थाओं को मृत्यु कहा है, तो पुनर्जन्म के अतिरिक्त इसका और क्या अभिप्राय हो सकता है ? जीवित करने में उपमा दी है धरती की। जैसे धरती क्रमशः सूखती है, और फिर हरी-भरी हो जाती है, वैसी ही अवस्था हमारी आत्मा की है, इसपर भी जीवन तथा मृत्यु की अवस्थाएँ आती-जाती रहती हैं। एक आयत में कहा है कि सौ वर्ष तक मार दिया, और फिर जीवित किया। यह जीवन प्रलय के दिन का नहीं, हर अवस्था में प्रलय से पूर्व का है, जो पुनर्जन्म के अतिरिक्त सम्भव ही नहीं। यदि मुसलमान पुनर्जन्म के सिद्धान्त को स्वीकार कर लें, जैसे तनासुख या सम्प्रदाय (मुसलमानों का एक सम्प्रदाय) के सम्बन्ध में सुना जाता है, तो मुसलमान इस्लामी बहिश्त का वही स्वरूप उपस्थित करेंगे, जो वेद के स्वर्ग का है। इस अवस्था में न तो किसी देश को विजय करने, और वहाँ की कुलीन स्त्रियों से विवाह करने के प्रलोभन देने का आरोप क़ुर्‌आन पर आयेगा, न सोने के कंगन को ईरान देश के ऐश्वर्य का प्रतीक मानना पड़ेगा। हर देश के वासी स्वतन्त्रता से जीवन बिताने के लिए उत्पन्न हुए हैं। प्रेम का सम्बन्ध तो चाहे किसी देश के पुरुष तथा किसी अन्य देश की स्त्री का हो जाए, उचित है, परन्तु एक विजयी देश दूसरे पराजित देश की कुलीन स्त्रियों से विजय के घमंड में विवाह-सम्बन्ध करे, यह तो सर्वथा अत्याचार है। ऐसी आज्ञा ईश्वरीय पुस्तक की नहीं हो सकती, और

वस्तुतः क़ुर्आन में यह बात कही भी नहीं गई। स्वयं व्याख्याकार महोदय जब इस विषय को गम्भीरता से सोचेंगे तो इस प्रकार की बातों को ईश्वरीय आज्ञा कभी न कहेंगे। अस्तु, यह निर्णय तो स्वयं मुसलमानों पर है। हमने भूमिका में ही मौ० सनाउल्ला, मौ० अब्दुल्ला साहब चकड़ालवी और स्वयं कादियानी सम्प्रदाय के मौ० मुहम्मद इसहाक़ के कथन प्रस्तुत किये थे जिनसे यह बात स्पष्ट थी कि स्वयं मुसलमान भी अभी क़ुर्आन की बहिश्त का वह स्वरूप मानते हैं, जिससे मौ० अब्दुलहक उदासीन दिखाई देते हैं। आर्यसमाज के सबसे बड़े आक्षेप का वास्तविक उत्तर तो स्वयं मुसलमानों से यह बात मनवाने में है कि क़ुर्आन का बहिश्त केवल आध्यात्मिक उद्यान का रूप है। वह केवल आत्मिक अनुभूति है जिसमें मांसलता के लिए कोई स्थान नहीं। स्त्रियाँ, लड़के, कंगन, रेशमी वस्त्र, पवित्र शराब, पक्षियों का मांस और सौंठ का पानी, यह सब केवल अलंकृत वर्णन है जिनका अभिप्राय केवल अल्लाह ही जानता है। सम्भव है कि हूरें स्वयं अपनी ही पत्नियाँ हों या किसी विजित देश की कुलीन स्त्रियाँ, अथवा आत्मिक उपलब्धियाँ हों। इनका तो कोई स्पष्ट अभिप्राय है भी, दूसरे अमूल्य पदार्थों के सम्बन्ध में तो इतना भी नहीं कहा जा सकता। अल्लाताला ने बहिश्त की उपमा तो दी है, परन्तु उपमान तथा उपमेय में कोई समानता है ही नहीं। बहिश्त की बीवियाँ होंगी तो बीवियाँ, परन्तु बीवियाँ न होंगी, पत्नी-समान न होंगी। वहाँ के लड़के होंगे तो लड़के, किन्तु लड़के न होंगे, इत्यादि। भला इस प्रकार की उपमा से क्या लाभ? अहमदी महानुभाव इस बात पर अधिक बल देते हैं कि क़ुर्आन के अमूल्य पदार्थ इस संसार के पदार्थों के समान नहीं होंगे। यद्यपि सूरत बकर में उनको इस संसार के पदार्थों से समता दी गई है, परन्तु मौ० अब्दुलहक का कथन है —"जब वहाँ की प्रत्येक वस्तु को नित्य, सदा रहनेवाली माना गया है, तो स्पष्ट है कि स्वर्ग के पदार्थ इस संसार के पदार्थों से भिन्न हैं।" आपने अन्तर बताया 'सदा रहने का' और दूसरी ओर अनित्य होने का'; यदि इन दोनों का अन्तर है कि यहाँ का सुख शीघ्र समाप्त हो जाता है और बहिश्त का सदा रह ज़ाता है, तो जुदा बात है, नहीं तो अन्य कोई अन्तर तथा उसका प्रमाण आपने नहीं दिया। क़ुर्आन का शब्द 'मुतशाबा' (समान) आपके दिये अन्तर का खण्डन करता है और

'समान' का अर्थ भी यही है कि ऐसी ही है। मौलाना ने पृष्ठ ४ पर लिखा है "आयताफतातलअम...........मामलून" (सिजदा १७)— "कोई नहीं जानता कि लोगों के शुभ कर्मों के फलस्वरूप कैसी-कैसी नेत्रों की शीतलता उनके लिए भाग्य में रखी गई है।" परन्तु फिर कहा है कि बाग़ हैं, शीतल छाया है, ग़िलमान हैं, पवित्र शराब है, पक्षियों का मांस है, तो इसका कुछ तो अभिप्राय होना चाहिए ? या तो ये दो प्रकार के वचन एक-दूसरे के विरोधी हैं। मेरे विचार में आपने दोनों प्रकार के सुखों में उपयुक्त अन्तर समझा है कि सांसारिक पदार्थों का सुख अनित्य है, बहिश्त का सुख नित्य है। अथवा, जैसे कठोपनिषद् में कहा है "मनुष्य उनको प्राप्त नहीं कर सकता" इसे कुछ बढ़ाया है और कहा कि "इस संसार में मनुष्य उसको प्राप्त नहीं कर सकता"—ऐसा स्वरूप देकर आपने क़ुरआन के बहिश्त की व्याख्या की है—"इतनी सुन्दर तथा मोहक रूपवाली (हूरें) होंगी कि कोई मनुष्य इस संसार में उनके अलौकिक सौन्दर्य का अनुमान भी नहीं कर सकता।" (पृष्ठ १२६)

यदि यही व्याख्या क़ुर्आन के उपर्युक्त वचन की कर दी जाए तो सर्वथा उपयुक्त है। यह व्याख्या हमारी नहीं, आपकी अपनी है। लोक तथा परलोक के सुख में स्तर का तो अन्तर है, वस्तु अथवा वस्तु-स्वरूप का नहीं।

अस्तु, हम तो स्वर्ग, प्रसन्नता तथा सुख के लोक को ही मानते हैं जो इसी संसार में ही प्राप्त होता है, यदि इस जीवन में शारीरिक सुखों के साथ आत्मिक आनन्द भी सम्मिलित कर दिया जावे। 'खुर्दन बराये ज़ीस्तन' का कथन (अर्थात् जीवन भगवद्-भजन के लिए है) जीवन के प्रत्येक सुख में सम्मिलित कर लिया जावे तो यही जीवन, स्वर्ग का जीवन बन जाता है। जब लक्ष्य आध्यात्मिक आनन्द है, परमेश्वर की इच्छा में प्रसन्न रहता है, उसकी मस्ती में मस्त होता है, फिर इस अनुभूति के प्राप्ति के लिए प्रयुक्त भौतिक साधन भी वस्तुतः अपने लक्ष्य के आत्मिक रंग में रँगे जाते हैं। शरीर को भक्ति करने के योग्य रखने के लिए, इसे स्वस्थ रखना और उसके लिए खाना-पीना भी भक्ति में ही सम्मिलित है। इसी प्रकार गृहस्थाश्रम भी, जिसमें बीवी-बच्चों का प्रेम धीरे-धीरे मनुष्य को स्वार्थ के घेरे से निकालकर, उसके प्रेम के वृत्त को स्वीकार करता है, और उसमें सार्वभौम आनन्द की अनुभूति जगा-

कर उसे 'वसुधैव कुटुम्बकम्' समझने के योग्य बना देता हैं, वह भी एक प्रकार की अर्चना तथा भगवद्-भजन है। इसे यज्ञ भी कह सकते हैं। वेद के स्वर्ग की यही व्याख्या है। यदि क़ुर्आन का बहिश्त भी ऐसा ही हो तो 'मन तू शुदम्, तू मन शुदी' दोनों के एकत्व का दृश्य उपस्थित हो जाए! आर्यसमाज तथा इस्लाम में फिर नाम-मात्र अन्तर रह जाये, और ऋषि दयानन्द की मनोकामना पूर्ण हो।

ऋषि फरमाते हैं—

"सबको ऐक्य मत में लाकर, द्वेष छुड़ाकर, परस्पर में दृढ़ प्रीति से युक्त कर के, सब से सब को सुखलाभ पहुंचाने के लिए मेरा प्रयत्न तथा अभिप्राय है।" (सत्यार्थप्रकाश, अन्तिम भाग)

आप अभी स्वीकार करें अथवा न करें, आपकी बहिश्त-सम्बन्धी व्याख्या क्रियात्मक रूप में इस तथ्य का स्पष्ट प्रमाण है कि आपकी अन्तरात्मा ऋषि के मन्तव्यों में विश्वास रखती है। क़ुर्आन शरीफ़ में आपने कुछ सीमा तक वह मार्ग अपनाने का प्रयास किया है, जो वेद तथा ऋषि दयानन्द का है। वस्तुतः यही मार्ग बुद्धियुक्त तथा सच्ची आध्यात्मिकता का मार्ग है। ऋषि के विचारों को पूर्ण रूप से स्वीकार करने, उनका सर्वाङ्गतः (पूर्ण रूप से) शिष्य बनने के लिए कुछ साहस चाहिए। यह प्रेरणा के संकेत क़ुर्आन में अवश्य हैं। इन संकेतों के आधार पर पूर्ण रूप की कल्पना, पूरा भवन-निर्माण, परिश्रम तथा योग्यता की माँग करता है। सम्भव है कभी इस परिश्रम में सफलता प्राप्त हो जाए, इस समय तो जैसा हमने ऊपर के उद्धरणों से सिद्ध किया है, व्याख्याकार महानुभावों में शक्ति की कमी तथा क़ुर्आन के मौलिक रूप की क्लिष्टता के कारण इस दिशा में किये गये प्रयास पूर्ण रूप से सफल नहीं हो सके। फिर भी प्रयत्न तो लक्ष्य है, यदि प्रयास निरन्तर रहे तो अन्तिम परिणाम यही होगा कि इस्लाम के माननेवाले इस विषय में आर्यों के स्वर-में-स्वर मिला लेंगे। ऐसा वे क़ुर्आन के शब्दों में करेंगे अथवा उसके बिना, यह भविष्यवाणी करना कठिन है। हम इन आक्षेपों का (जो किये गए हैं) हृदय से स्वागत करते हैं। हाथ चाहे वार करने के अभिप्राय से उठा है, परन्तु उठा तो हमारी ओर है! अब यह हमारी प्रेम-भावना पर निर्भर करता है कि हम वार के लिए उठे हाथों को अपनी गर्दन में प्रेमपाश में लिपटनेवाले हाथ बना लें।

क्या झुकी गर्दन कि ख़ंजर, बाज़ुए-ख़म हो गया। □□
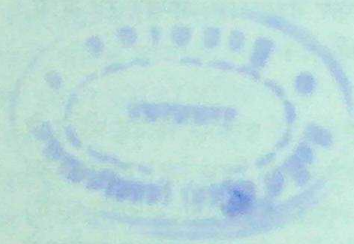
वाग्मी प्रवर कविर्मनीषी स्व० पं० चमूपति एम० ए०

जन्म-तिथि : १५ फरवरी १८९३ ई०

निधन-तिथि : १५ जून १९३७ ई०